ब्रह्मसूत्र
(श्री सनातन भाष्य)
in Form of typical
Texts in PDF Format
प्रथम अध्याय के अंतर्गत
प्रथमपाद की अति सरल एवं
धारण करने योग्य व्याख्या
परम् श्रद्धेय स्वामी सनातन श्रीजी महाराज

"हरि ॐ नारायण हरि"

"ब्रह्म-सूत्र"

(श्री सनातन भाष्य)

प्रथमाध्याये-प्रथम पादः

【 1 】 अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।। १.१.१ ।।

आरम्भ करें आत्म जिज्ञासा ।

"अथ" = अब,आरम्भ

"अतः" = यहा से,अतएव

"ब्रह्मजिज्ञासा" = आत्म जिज्ञासा, ब्रह्म उत्कंठा ।

आयें आरम्भ करें ब्रह्म (आत्म) जिज्ञासा । आत्मा के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा करें । आदिकालीन गुरुकूल शिक्षा का प्रथम सूत्र भी "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" ही रहा है । मन्दिर, मूर्ति तथा पुजारी के रूप में , शरीर, आत्मा तथा जीव का परिचय

कराया जाता था । हम न तों शरीर ही है और न ही पूर्ण रूप से आत्मा - हम जीवात्मा है जैसा की पूर्व में स्पष्ट किया है ,

गुरुकुल का प्रथम सूत्र है यह ! परंतु यही सूत्र क्यो ? क्योकि गुरुकुल का प्रधान उदेश्य है ज्ञानयज्ञ ! अतः इस सूत्र में दर्शाया गया है कि यहा से आरम्भ होगा ज्ञानयज्ञ ! आत्मा ही यज्ञेश्वर है ! इस ज्ञानयज्ञ का आचार्य अर्थात गुरु है स्वयं आत्मा ; यजमान अर्थात छात्र है जीव ; एवं यज्ञकुण्ड है शरीर ; परंतु यह सब तो जन्म से प्राप्त ही है फिर क्यो नही आरम्भ हुआ यह पावन ज्ञानयज्ञ ! क्योकि कमी है ज्वाला की ! ज्ञानयज्ञ जो प्रधान उदेश्य रहा है गुरुकूल का वह तभी आरम्भ होगा जब प्रगटेगी ज्वाला ! कौनसी ज्वाला है वह यही दर्शाया है इस सूत्र में ; वह ज्वाला है "जिज्ञासा" की ! जो उदेश्य है प्रधान ज्ञानयज्ञ का ऐसे आदिकालीन गुरुकुल का प्रथम सूत्र रहा है यह ! क्योकि जिज्ञासा की ज्वाला के बिना सम्भव नहीं है ज्ञानयज्ञ

【 2 】 जन्माद्यस्य यतः ।। १.१.२ ।।

"जन्मादि" = जन्म आदि

"अस्य" = ऐसे

"यतः" = जिससे

जन्मादि (अवागमन) सचराचर सम्भव होता जिससे वह ब्रह्म (आत्मा)

ही है जिससे सम्पुर्ण सचराचर निरंतर प्रगट होता है जिसमें सम्पूर्ण सचराचर लय होता है तथा जो सम्पूर्ण सचराचर को धारण करता है । ब्रह्म (आत्मा) के कारण ही जन्म–दर –जन्म हम उत्पन्न होते है ।

ॐ ऋतंञ्व सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत

ततो रात्रयजायत ततः समृद्धो अर्णव ।

समुद्रादर्णवादाधिसंवत्सरो अजायत

अहोरात्रार्णि विधाद्विश्वस्य मिषतो वशी ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वम कल्पयत्

दिवञ्च पृथिवीञ्वचान्तरिक्षमथोस्वः ।।

(ऋग्वेद ८.८.४८)

ब्रह्म ने प्रकृति को प्रणय पाश में बाँध लिया । उनके निरन्तर प्रणय से क्षीरसागर जलादि प्रगट हुए । क्षीरसागर (अंतरिक्ष, आकाश) में ग्रह, सूर्य नक्षत्रादि बह्म के द्वारा प्रगट हुए, वे परभ्रमण, परिक्रमाओं को प्राप्त होने लगे जिससे दिन–रात्रि तथा संवत्सर (वर्ष) प्रगट होने लगे । परिक्रमाओं के आधार पर ही युग कल्पादि भी प्रगट हुए, सम्पूर्ण सचराचर जीवन्त हो उठा । फिर :–

"एवा ह्यास्य सुनृतां विरप्शी गोमती मही ।

पक्वाशाखा न दाशुषे" ।।

(ऋग्वेद - १.८.८)

इस प्रकार मंगल यज्ञों को धारण करने वाला आत्मा प्रगट हुआ । प्रकृति उत्पन्न हुई । पेड़ पौधे का जन्म हुआ तो अन्न फलादि बने । मानव अंगों की कल्पना वृक्षों की शाखाओं पर पके फल बनकर लहलहा उठी ।

"यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते ।

उर्वीरापो न काकुदः" ।।

(ऋग्वेद -१.८.७)

बह्म ने देहधारियों के गर्भ में यज्ञों के द्वारा अन्नादि को यथा स्वरूपों मे सन्तत्तियों में प्रगट करना आरम्भ कर दिया ।

"अहमात्मा गुडाकेष सर्वभूताशयस्थित:

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च" ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १०.२०)

हे अर्जुन ! में सब जीवो के हृदय में स्थित सबका आत्मा (बह्म) हूँ, तथा

उनका आदि मध्य और अंत भी मै ही हु ।

इसे विस्तार से ऐसे समझे कि एक हलवाई ने लड्डू बनाए । आठ दस बर्तनों का प्रयोग करके हलवाई लड्डू बनाता है । एक बर्तन में बेसन घोलता है, दूसरे मे सीरा बनाता है, एक कढ़ाई मैं घी गर्म करता है । इस प्रकार हलवाई बर्तनों के प्रयोग से लड्डू बनाता है ! प्रश्न उठता है किस बर्तन ने लड्डू बनाये ? उत्तर एक ही सत्य होगा की लड्डू बर्तनों ने नही बनाये, लड्डू तो हलवाई ने बनाये है ! बर्तनों को निम्मित बनाकर - बर्तनों के संयोग से लड्डू बनाये है । बर्तन स्वयं लड्डू नही बना सकते !

इसी प्रकार ब्रह्म (आत्मा) रूपी हलवाई ने हमे पेड़-पौधे रूपी बर्तनो के संयोग से भस्मी (मिट्टी),जल से अन्नादि मे उत्पन्न किया । तदुपरांत बह्म (आत्मा) हलवाई ने माता पिता रूपी बर्तनों में, पात्रों के संयोग से (पात्र को निम्मित बनाकर) शिशु रूप में उत्पन्न किया । माता-पिता शरीर का कोई अंग एक कोश भी बनाना नही जानते है ,फिर उन्होंने बालक कैसे बनाया ? बह्म (आत्मा) ही उत्पत्ति का मूल है । जीवन (जन्मादि) बह्म (आत्मा) द्वारा ही सम्भव है ।

【 3 】 शास्त्रयोनित्वात् ।। १.१.३ ।।

"आदेश द्वारा उत्पत्ति पाता सचराचर"

"शास्त्र' = आदेश ,शास्त्रों , श्रुतियों

"योनि" = उत्पत्ती ,योनियों , जीवन , आधार

वात् = फूंकना ,प्राणवान हो जाना

जिसके आदेश द्वारा (इच्छा द्वारा) जीवन्त हो उठता है सचराचर , ऐसे ब्रह्म की जिज्ञासा करें । सम्पूर्ण शास्त्रों ने आत्मा (ब्रह्म) को ही योनियों (जीवन) का मूल कारण तथा कर्ता व भर्ता माना है । ब्रह्म (आत्मा) ही सृष्टि का मूल है तथा यही काऱण है इसलिए ब्रह्म (आत्मा) को जानने की जिज्ञासा करें ।

प्रथम सूत्र में जिज्ञासा की ज्वाला प्रज्वलित करकें आदिकालीन गुरुकूल ने ज्ञानयज्ञ का आरम्भ तो कर दिया अब इसी ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात आत्मजिज्ञासा की ज्वाला को और भी प्रज्वलित करने के लिये इस सूत्र में ब्रह्म (आत्मा) के कार्य की और थोड़ा सा संकेत किया जिससे आदिकालीन गुरूकुल के छात्र की जिज्ञासा बढ़े और उनकी उत्कंठा जिज्ञाषा की ज्वाला को और भी ज्यादा प्रज्वलित कर सके ! ब्रह्म जिज्ञासा के इस सूत्र में ब्रह्म (आत्मा) को ही सृष्टि का काऱण माना है जो ॐ है अर्थात बह्मा विष्णु ओर महेश है वही ब्रह्म आत्मा बन कर सचराचर के जीवन का मूल कारण है वही कर्ता एवं भर्ता है वही स्रुष्टि का मूल है

【 4 】 तत्तु समन्वयात् ।। १.१.४ ।।

"तथा व्याप्त होता उसमें"

तत् = ऐसे, इस प्रकार ।

तु = में । ऐसे आत्मा में ।

समन्वयात् = जो सम भाव में जगत में स्थित होकर ,

समान रूप से सबको जन्मता, धारण एवं पालन कर्ता व मृत्यु दाता है तथा पुनः जन्म प्रदान करने वाला विधाता है ऐसे ब्रह्म में सम भाव से व्याप्त हो जायें ।

हमारें जीवन की राह भीतर जाती है । जिससे हमारा जन्म है उत्पत्ति है तो फिर हमारा अन्त भी उसी में होना चाहिए । वेद बह्म सूत्र आदि विज्ञान है । ये ऐसी कोई बात नही करते है जो तर्कों तथा प्रमाणों द्वारा सिद्ध न हो ।

प्रथम सूत्र में बह्म अर्थात आत्मा को जानने की जिज्ञासा प्रगट की । जिससे ज्ञानयज्ञ की ज्वाला प्रगट हुई ।

दूसरे सूत्र में उसी बह्म अर्थात आत्मा से जन्म आदि सभी सचराचर के जीवंत हो उठने का तथ्य सिद्ध किया । तीसरे सूत्र में आत्मा को ही कर्ता बतलाकर अर्थात जिसके आदेश से सचराचर प्राणवान हो उठने के रहस्य को स्पष्ट करके उसी सूत्र को और भी ज्यादा सुस्पष्ट किया । अब इस चतुर्थ में सूत्र बह्म अर्थात आत्मा को ही सर्वत्र व्याप्त (कारण रूप में) होने के रहस्य को स्पष्ट किया

"सृष्टि है जहां , सृष्टा है वहा"

सनातन धर्म मे ब्रह्म अर्थात आत्मा का सर्वत्र व्याप्त होने का दर्शन ही क्रियामाण है

यहा उपनिषद कहता है "सर्वं खल्विदं बह्म" गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान शिव के वचन के रूप में कहते है " हरि व्यापक सर्वत्र समाना," एवं सिय राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी यह कहकर गोस्वामी तुसलिदास जी बह्म (आत्मा)को , हर घट मे सब मे समण करने वाले श्री राम को ही जनकदुलारी श्री सीता जी के साथ सर्वत्र सब जग में व्याप्त होने के रुप मे दर्शाते है । श्रीमद्भगवतगीता भी "वासुदेव: सर्वम्" कहकर सर्वत्र यही एक बह्म (वासुदेव-आत्मा)के सर्वत्र व्याप्त होने के रहस्य को दर्शा रही है यहा बह्म अर्थात आत्मा कर्ता भी है एवं कारण भी है विष्णु रूप में विश्व मे व्याप्त है बह्म , तभी तो सृष्टा (बह्म - आत्मा) अपनी स्रुष्टि को निरंतर धारण सर्जन और संहार के यज्ञ को चलायमान रखता है यदि यह बह्म सातवे आसमान या अन्यत्र कही स्थित होता तो उत्पत्ति भी आसमान से ही टपक रही होती भोजन भी आसमान से गिर रहा होता ,शिशु की उत्पत्ति भी हर घट में न होकर आसमान से ही होती अतः ब्रह्म सूत्र के इसी सूत्र ने ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त होने के तथ्य को दर्शाया है

"मोक्ष ही लक्ष्य है"

इसी लक्ष्य(आत्मा - मोक्ष)को केंद्र में रखके हमे जीवन को परिक्रमा रूप में जीना है अन्यथा भटकाव है

जिसने हमें जीवन दिया ,पालन किया उसी मे समाना अद्वेत होना ही तो लक्ष है ।

【 5 】 ईक्षतेर्नाशब्दम् ।। १.१.५

ईक्ष = ईख , गन्ना , गन्ने का रस (का स्वाद)

न = नहीं बता सकता

अशब्दन् = गूंगा , जिह्वा ,शब्द से हीन ।

जिस प्रकार गन्ने की व्याख्या गूंगा नहीं कर सकता है उसी प्रकार ब्रह्म (आत्मा) की व्याख्या इंद्रियों द्वारा सम्भव नही है । उसे सिर्फ अंतर मे अनुभव किया जा सकता है । इस लिए इसे गूंगे का गुड़ भी कहा जाता है । (आत्म - ज्ञान गूंगे का गुड़ है)

वाह्य जगत के शब्द से अतीत है यह आत्मज्ञान, शब्द ब्रह्म अवश्य है परंतु यह स्थूल इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य शब्द नहीं है स्थूल इन्द्रियो द्वारा अभिव्यक्त एवं ग्राह्य शब्द के लिये ही इस सूत्र में "अशब्दन्" कहा गया है परंतु आत्मस्थ होकर अंतर से सुना हुआ शब्द ही बह्म है आत्म ज्ञान अभिव्यक्ति का विषय ही नहीँ है उसे सिर्फ अंतर से अनुभव करना है इसीलिए आत्मज्ञान को गूंगे का गुड़ कहा गया है ।

【 6 】 गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।। १.१.६ ।।

गौण:, चेन् = चेत् ,नात्म = न + आत्म ,शब्दात्

गौण: = उपरान्त, अनावश्यक, महत्वहीन

चेत = ग्रहण करना, चैतन्य होना,विचार करना

अनात्म = आत्मा से हीन, भौतिक जगत, वाह्य आडम्बर, दिखावा,भौतिक धनादि अतृप्तियाँ एवं तथाकथित उपलब्धियाँ, वाह्य दिखावा, पूजा, यज्ञादिक आडम्बर

शब्दात् = विचार, कथन, आदि

सत्य तो मात्र ब्रह्म (आत्मा) है ! बाकी सचराचर आदि सब गौण (महत्वहीन) है आत्मा के उपरान्त है सत्य आत्मा को जानने एवं समझने वाले जानते है कि वाह्य जीवन मात्र नाटक की औपचारिकता है ! जीवन का सत्य तो आत्मा से जुड़कर जीना है ।

ऋत् है जो ,अर्थात अपरिवर्तनीय सत्य है वही ब्रह्म अर्थात आत्मा है आत्मा का सत्य परिवर्तनशील कदापि नही हो सकता ! ब्रह्म (आत्मा) नित्य अजर अमर अविनाशी है इसीलिए ब्रह्म (आत्मा) ही सनातन है

न जायते म्रियते वा कदाचि-

न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

(श्रीमद्भगवद्गीता-2.20)

अर्थात यह आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता है। यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला नहीं है। यह जन्मरहित नित्यनिरन्तर रहनेवाला शाश्वत और पुराण (अनादि) है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।

आत्मा कालातीत एवं सनातन है वाह्य जगत क्षणभंगुर एवं नाशवान है रिश्ते -नाते सब को चलाने वाला एकमात्र आत्मा ही है आत्मा ही सर्वस्व है आत्मा ही सबकुछ है हमारे माता पिता गुरु बन्धु सखा पालक सबकुछ आत्मा ही है आत्मा ही सब कार्य का एकमात्र कर्ता है यदि आत्मा नहीं तो कुछ नहीं करोडों सूर्य की रोशनी भी मुर्दे को आंखे - ज्योति नहीं दे सकती ।

वाह्य जगत नाटक की औपचारिकता इसीलिए है की जिस ज्ञान का आडंबर रे जीव तूने पूरी जिंदगी किया आज चिता पर लेटे सब कुछ छूट गया है फिर पूरी जिंदगी एक ज्ञानी होने का डिग्रियां बटोरने का नाटक ही तो था आत्मा ही कर्ता है तो संतान को जन्म दिया किसने ! यदि आत्मा ने ही जन्म दिया है संतान को, तो पिता होने का नाटक नहीं तो क्या है ! इसिलिए आत्मा को जानने एवं समझने वाले जानते है कि वाह्य जीवन मात्र नाटक की औपचारिकता है !

जीवन का सत्य आत्मा से जुड़कर जीना है क्योंकी जीवन का अस्तित्व ही आत्मा है आत्मा से विहिन जीवन की परिकल्पना भी सम्भव नहीं है तो सत्य रूप में जीवन का सत्य आत्मा से जुड़कर जीना ही तो है ।

【 7 】 तन्निष्टस्य मोक्षोपदेशात् ।। १.१.७ ।।

तन ; तत् = ऐसे ही ब्रह्म आत्मा में

निष्ठस्य = निष्ठा सहित स्थित होकर

मोक्ष = अवागमन से मुक्ति , नित्य अवस्था

उपदेशात् = ऐसा कहा गया है उपदेशित हुआ है

ऐसा कहा गया है, उपदेशित हुआ है कि बह्म आत्मा में निष्ठा सहित स्थित होकर नित्य अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त हो !

जिस बह्म (आत्मा) की जिज्ञासा से गुरुकुल में आया था वह जीव रूपी छात्र, उसीको देह रूपी गुरुकुल में स्वयं आत्मा रूपी गुरु ही निरंतर उपदेश दे रहे है एवं यह तथ्य स्पष्ट कर रहे है कि बह्म अर्थात आत्मा में निष्ठा सहित स्थित होकर नित्यावस्था अर्थात मोक्ष को प्राप्त हो !

आत्मा में निष्ठापूर्वक स्थित होने का अर्थ है आत्मा की ही भांति निष्काम भाव से सचराचर की सेवा में रत रहना, क्योकी शिष्य वहीं है जो गुरु के नक्शे कदम पर चले ! यहा जीव रूपी शिष्य को निष्ठा पुर्वक आत्मारूपी गुरु मे स्थित होना है, उसी के नक्शे कदम पर चलना है ! तभी तो अद्वेत सम्भव है अर्थात तभी तो क्षणभंगुर जीव को आत्मा की नित्यावस्था प्राप्त हो सकती है ! आत्मस्थ होने की अवस्था ही वास्तव में नित्यावस्था है एवं आत्मा की नित्यावस्था को प्राप्त होना , जीव का आत्मा से अद्वेत होना यही तो मोक्ष है अवागमन से मुक्ति ही मोक्ष है

अनित्य क्षणभंगुर संसार की आसक्तीयों एवं विषयवासनाओं से मुक्त होना, मेरा-तेरा, अपने-पराए के भेदभाव से मुक्त होना एवं अभेद आत्मा से जुड़ना यही तो मोक्ष है हम सब इसी को प्राप्त हो !

【 8 】 हेयत्वा वचनाच्च ।। १.१.८ ।।

हेयत = गौण , त्याज्य निकृष्ट ,भौतिकता एवं विलास की वृत्तियों तथा कामनाओं को

व = तथा

वचनाच्च = वचनाच + च ; संकल्प मन वचन क्रम (कर्म) से त्यागते हुए, आत्म मार्ग के मार्ग को प्रशस्त करें !

"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" - चले भीतर चले ! खोज डालें ! हे जीव निष्ठापूर्वक आत्मा मे स्थित होने से ही मोक्ष होता है भौतिकता एवं विलास की वृत्तियों एवं कामनाओं के संकल्प को मन वचन से क्रमशः त्यागते हुए आत्म-मार्ग मे प्रशस्त हो !

बहार बहिर्मुखी इंद्रियों की चाह है जब की भीतर आत्मा की, मोक्ष की राह है यदि लक्ष्य को प्राप्त करना है तो चाह को मन कर्म आदि से क्रमश: त्याग कर ही आत्मा रूपी लक्ष्य की राह को पाया जा सकता है

【 9 】 स्वाप्ययात् ।। १.१.९ ।।

स्व = आत्मा ;

स्वाप्ययात् = आत्मा से अद्वैत होकर ही मोक्ष प्राप्ति होना सिद्ध हुआ है अन्य कारण उपदेश हेय अर्थात सत्य से परे है !

"स्व"(आत्मा) मे ही आत्मवत होना, पूर्णमिल जाना, आत्मस्थ होकर जीना ही जीवन का उद्देश्य है आत्मा ही देवयान है इसे ही पुष्पक विमान भी कहते है । जो आत्मस्थ होकर जीते है वही अन्तिम समय मे शरीर त्याग कर देवयान से स्वर्गलोक को जाते है ।

आत्मस्थ होना ही तो मोक्ष प्राप्ति है ! क्योकि आत्मस्थ हुआ जीव स्थितीप्रज्ञ है अर्थात वह जीव लाभ-हानि , सुखदुःख , रागद्वेष , लोभमोह ,कामक्रोध आदि समस्त सांसारिक भटकावों से सर्वथा विमुख हो जाता है यही तो मोक्ष है जो इन भटकावों से मुक्त नहीं हुआ उसे मोक्ष का अधिकारी कहा किसने ? मोक्ष का अर्थ आत्मस्थ होना ही है आत्मा से अद्वैत करना ही मोक्ष है ! आत्मा ही तो देव है अतः देवयान मे स्थित वही है जो आत्मा मे स्थित है , देवयान मे स्थित होने से ही तो स्वर्गलोक का गंतव्य पायेगा ।

जीव का स्वर्गलोक भी आत्मलोक यही है क्योकि जो आत्मा (स्व) की सीमा में (अर्ग) सीमित नहीं हुआ , जिसका सर्वस्व आत्मा नहीं हुआ वह सर्वलोक के

गंतव्य को प्राप्त करें भी कैसे ?

आत्मा से अद्वेत होना ही "मोक्ष" है

आत्मा से अद्वेत करना ही "योग" है

जब तक मिटे न भेदभाव ;

योग की बात भूल जाओ !

आत्मस्थ होने के लिए , आत्मा से अद्वेत करने के लिए , आत्मा से योग (मिलन) के लिए भेद का मिटना परमावश्यक है वहीं मोक्ष है

【 10 】 गति सामान्यात् ।। १.१.१० ।।

गति = मोक्ष ; सदगति ; अमर गति

सामान्यात् = समान भाव से सभी श्रुतियों, वेदों, ऋषियों, ब्रह्मज्ञानीयों ने मानी है ।

अत्माद्वेत (आत्मा से अद्वेत) ही एक मात्र मार्ग है मोक्षगति को पाने के लिए ।

समान रूप से सभी ग्रंथों, श्रुतियों, वेदों, ऋषियों, मुनियों, ब्रह्मज्ञानीयों ने कहा है कि मोक्ष की गति आत्मा से जुड़ने पर ही मिलती है

अमर गति ही मोक्ष है आत्मा ही नित्य अजर अमर अविनाशी है आत्मा ही सनातन है अर्थात आत्मा विनाश रहित,मृत्यु से रहित अमर है अतः आत्मा से अद्वेत करना , आत्मा मे स्थित होना ही इकलौता मार्ग है मोक्षगति को पाने के लिए ।

श्रीमद्भगवत गीता ही आत्मा और जीव का संवाद है उसीमें आत्मा रूपी श्री कृष्ण कहते है कि

"मामुपेत्य पुनर्जन्म दु:खालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मान: संसिद्धिं परमां गता:" ।।8.15।।

परम सिद्धि को प्राप्त महात्माजन (जीव) मुझ को (श्री कृष्ण को-आत्मा को)प्राप्त होकर दुखों के घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते (अर्थात आत्मस्थ जीव की गति अमर गति है) ।।15।।

यहा भी आत्मस्थ हुए जीव की अमर गति ही दर्शाई गयी है क्योंकि आत्मा ही श्री कृष्ण है जिसको प्राप्त होकर क्षणभंगुर जीवन से अमर राह पायीं जा सकती है

सद् भी आत्मा ही है अतः आत्मा की गति ही सद्गति है

कृष्ण का अर्थ है मोक्ष को प्रदान करने वाला ; कृ = करने वाला ; ष्ण = मोक्ष, अर्थात मोक्ष को प्रदान करने वाला ही कृष्ण अर्थात आत्मा है

आत्मस्थ ही कृष्णस्थ है उसीकी गति अमर गति है सदगति है मोक्ष की गति है यही समान रूप से सभी ग्रंथों, श्रुतियों, वेदों, ऋषियों, मुनियों, ब्रह्मज्ञानीयों ने कहा है

【 11 】 श्रुतत्वाच्च ।। १.१.११ ।।

श्रुतत्वाच्च = सम्पूर्ण श्रुतियों एवं धर्म सनातन ने आत्म-योग को ही राह बताया है सब श्रुतियों का यही वचन अर्थात भाव है ।

सभी ग्रंथों श्रुतियों आदि का यही मत (वचन) है कि आत्मा मे स्थित होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । सारे सद्ग्रन्थ एवं श्रुतियों ने आत्मा को ही मोक्ष का द्वार माना है

मोक्ष ही लक्ष्य है ! मोक्ष अर्थात आत्मस्थ होना ! सब श्रुतियों ने इसी लक्ष्य को केंद्र में रखा है आत्मस्थ हुआ जीव सभी द्वंधो से अतित हो जाता है जिस प्रकार अंतरिक्ष मे सूर्य को अंधकार स्पर्श नहीं कर सकता उसी प्रकार जो आत्मा मे स्थित है उसे कोई द्वंध स्पर्श नहीं कर सकता अर्थात आत्मस्थ जीव मुक्त ही है यही तो मोक्ष है आत्मा मे स्थित होना अर्थात

अभेद द्रष्टि को प्राप्त करना ! सर्वत्र एक ब्रह्म का दर्शन करना "एको ब्रह्म दृतियो नास्ति" की अवस्था प्राप्त करना ! अतः सभी ग्रंथों श्रुतियों आदि का यही मत (वचन) है कि आत्मा मे स्थित होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

【 12 】 आनन्दमयोऽभ्यासात् । १.१.१२ ।।

आनन्दमयाः = परमानन्दित , आत्मा के आनन्द मे डुबे हुए ।

अभ्यासात् = ऐसे अभ्यास निरंतर करना ही आत्माद्वेत (आत्मा से अद्वेत) अर्थात मोक्ष मार्ग है । ईर्षा , द्वेष लिप्सा क्रोध मोह प्रतिशोध आसक्तीओं के अभ्यास नरक के द्वार है आत्मा में परमानन्दित मार्ग ही मोक्ष परक है

"आनन्दमयाः" आत्मा के आनन्द में डूबे हुए , "अभ्यासात" ऐसा अभ्यास निरंतर करना ही मोक्ष का द्वार है ।आत्मा के आनन्द में ही जीने का अभ्यास करना मोक्ष की राह है

यथा वृत्ति, तथा गति ; मोक्ष (आत्मा से अद्वेत करना) ही लक्ष्य है उसी लक्ष्य की गति प्राप्त करने हेतु आत्मा के आनन्द में ही जीना एवं नित्य निरंतर सर्वदा आत्मवत आचरण करना , उसी के अभ्यास मे रत रहना, सचराचर की निष्काम भाव से सेवा करना , भेद दृष्टि को सर्वदा निर्मूल बनाना , आत्मवत ही अभेद दृष्टि आचरण में लाना परमावश्यक है

आत्मा से विपरीत आचरण करना ही नरक का द्वार है क्योकि आत्मा को सूर्य अर्थात अर्क कहा गया है उसका अनुसरण न करना ही नर्क (न + अर्क) की अवस्था है आत्मा राग , द्वेष , लोभ , मोह , क्रोध , ईर्षा , प्रतिशोध , आसक्तियों आदि से सर्वथा रहित है एवं यह सभी भाव आत्मा से विपरित है अतः उसका अभ्यास नरक का द्वार है

वृत्ति ही गति निर्धारित करती है अतः अभ्यास के द्वारा वृति को सर्वदा आत्मवत आचरण में रखना ही मोक्ष मार्ग है इसतरह का नित्य निरंतर आत्मा के आनन्द में डूबे हुए वैसा ही अभ्यास निरंतर करना ही मोक्ष का द्वार है

【 13 】 विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचूर्यात । १.१.१३ ।।

विकार = भटकाव , असत्य

शब्दात् = शब्द है। जो पूर्व मे कहा है। (आनन्दमयोऽभ्यासात्) ऐसा शब्द

इति = इस भान्ति

न = नहीं

प्राचूर्यात = व्यापक रूप से कहा गया है, सही नहीं है । आत्मस्थ निमीत्त जीवन आत्मा में व्याप्त आनन्द ही सत्य है

भावार्थ यह है कि "प्राचूर्यात" प्रचुर मात्रा मे, व्यापक रूप से लोग यह मानते है

कि सिर्फ़ आत्मा के आनन्द में जीना भी एक प्रकार का विकार है इससे संसार नही चलता है , ऐसा सोचना ठीक नही है , यह सत्य नही है । (आत्मा के सुख से बड़ा सुख इस धरती पर नही है) आत्मा ही हमें धारण किये हुए है अतः आत्मा से जुडकर जीना ही धर्म की राह है आत्मा की राह ही धर्म की राह है "धारायती इति धर्म:" जो हमे धारण किये हुए है वही धर्म है , इस प्रकार आत्मा ही हमारे जीवन का आधार है वही हमे प्रत्येक पल जीवन का दे रहा है जीव और आत्मा में भेद नहीं समझना चाहिए जैसे हमारे दो पैर (हाथ ,आंख ,कान जंघाएँ आदि) दो होते हुए भी एक ही है क्योकि दोनो पैर एकसाथ विपरीत दिशा मे नहीं जा सकते है उसी प्रकार जीव और आत्मा दो होते हुए भी एक साथ ही जीते है ।

आत्मा का आनन्द ही सर्वस्व है उससे हट कर कोई आनन्द आनन्द ही नहीं है । केवल प्राप्ति मात्र है नश्वर क्षणभंगुर इन्द्रियों का आनन्द भी मुर्दा शरीर के लिए सम्भव नही है तो आनन्द अनुभूति भी प्राप्त कराई किसने ? जब तक देह में आत्मा थी तभी तक तो नश्वर इन्द्रियों का क्षणभंगुर आनन्द भी संभव हो पाया अगर उसी आत्मा मे यदि अद्वैत हो जाये , एकत्व प्राप्त कर ले तो नित्य निरंतर सर्वदा नन्द स्वरूप प्राप्त हो जाये उसमे संदेह कैसा ?

आत्मा ही वास्तवकि धर्म है उससे हट कर कोई स्वधर्म हमारा नही है आत्मधर्म ही स्वधर्म है श्रीमद्भगवत गीता में आत्मा रूपी श्री कृष्ण कहते है "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज:" अर्थात आत्मा रूपी कृष्ण कहते है की इन्द्रियोचित सभी सांसारिक और क्षणभंगुर तथाकथित धर्मो को छोड़कर मुझ आत्मा एक वासुदेव की ही शरण में आ जाओ क्योकि धर्म अर्थात धारण करने वाला एक मै ही हूं अर्थात आत्मा हूं इससे विपरीत धर्म को धर्म कहा किसने ? धारण करने वाला एक कान्हाई ही तो है फिर धर्म का साक्षात स्वरूप , धर्म की मूर्ति वही तो आत्मा वासुदेव है उन्ही की शरण वास्तव मे जीव को धर्मात्मा बनाती है

आत्मा ही जिसका धर्म हो वही तो धर्मात्मा है

जीव और आत्मा को दो पैर आदि से समझना चाहिए दो होते हुए भी एक है हमारे पूर्वज ऋषि मुनि इत्यादि की एक पाँव पर तपस्या करने की बात सन्मुख आती है अभिप्राय यही था की एक आत्मा ही सर्व आधार का प्रतीक हो केवल आत्मा उसके अतिरिक्त और कुछ नही यही प्रतीकात्मक है प्रत्येक जीव आत्मदण्डी बने आत्मा के सहारे ही जिये यही अभिप्राय दण्ड धारण करने का था आज समस्त क्रिया तो चलायमान है परंतु उसका सूक्ष्म गूढ़ संकेत था उस क्रिया का जो प्रतीकात्मक अंतरात्मा का भाव था वह प्रायः लुप्तप्राय रहता है यह बड़ा दुर्भाग्य है।

जीव और आत्मा (ब्रह्म) में भेद नही समझना चाहिए क्योंकि ब्रह्म (आत्मा) के अतिरिक्त तो और कुछ है ही कहा ? " एको ब्रह्म द्वितियों नास्ति " !

【 14 】 तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।।१.१.१४।।

तत् = ऐसे (आनन्दमय ब्रह्म)

धेतवः = धारण करने योग्य , सबका धाता , विधाता

उपदेशात् = उपदेशित हुआ है । सभी धर्म ग्रन्थों ने आत्मा के आनन्द को ही सत्य माना है ।

च = तथा आत्माद्वैत (आत्मा मे मिलकर एक हो जाना) ही मोक्ष का इकलौता मार्ग है

भावार्थ यह है कि जो आत्मा हमें धारण करता है , हर पल हमें सांस , धड़कनों से जीवन दे रहा है , हमारे जूठे भोजन को प्रेम के साथ ग्रहण कर रक्त , माँस आदि में निरन्तर बदल कर हमे जीवीत रख रहा है , ऐसे में हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम भी पूर्ण समर्पण के साथ आत्मा को ह्रदय से डूब कर प्यार करें । अपने ह्रदय को सदा मथते रहना चाहिए ताकि सत्य का बीज हमारे भीतर उत्पन्न हो , "आनन्दमयोऽभ्यासात्" पूर्व में उपदेशित शब्द , आत्मा के आनन्द में ही जीने का अभ्यास करना चाहिए ।

【 15 】 मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते।१.१.१५||

मान्त्रवर्णिकम् = सभी मंत्रों में नियमित रूप से निरन्तर ।

एव = ऐसा ही ,

च - तथा । ब्रह्म (आत्मा) ही मात्र मार्ग है ।

गीयते = ग्रहण किया गया है ।

भावार्थ यह है कि समस्त मंत्रों का यही भाव है कि हम पूर्ण रुप से आत्मा में स्थित होकर जीये ,आत्माद्वेत (आत्मा से अद्वेत करना) ही मार्ग है तथा आत्मा का आनन्द ही जीवन की उपलब्धि है ।

मन्त्र का प्रयोजन ही यही है कि जिससे मनन हो पाये , मन को आत्मा रूपी खूटे से बांध पाये , इसीलिए समस्त मन्त्रों का यही भाव है की हमारा मन आत्मा के मनन में , आत्मचिंतन में स्थित हो पाए तभी आत्माद्वैत (आत्मा से अद्वैत) सम्भव होगा यही एकमात्र लक्ष्य का मार्ग है और इसी राह की उपलब्धि है कि नित्य आत्मा में स्थित हो पाना ! आनन्द स्वरूप परमात्मा के सूक्ष्म रूप में स्थित होकर अर्थात आत्मस्थ होकर ही तो आत्मा के कभी खत्म न होनेवाले नित्य आनन्द की उपलब्धि सम्भव है

【 16 】 नेतरोऽनुपपत्तेः ।१.१.१६।।

न = नही

इतर = इससे हटके

अनुपपत्ते = मोक्ष का कोई अनुपम मार्ग

जैसा कि पूर्व में सूत्रों में आया है "आनन्दमयोऽभ्यासात्" , आत्मा के आनन्द में पूर्ण रूप से समार्पित होने का अभ्यास करना ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग है । आत्मा ईश्वर में पूर्ण समर्पण ही मोक्ष की एकमात्र राह है इसीको आगे परिभाषित करते हुए कहा है की "नेतरोऽनुपपत्तेः" इससे (आत्मा से) हटकर (परे) कोई भी अनुपम मार्ग नही है मोक्ष आत्मा से हटकर या कटकर जीना सत्य को नकारना है

सत्य हम सब के भीतर बैठा है "कस्तूरी कुण्डली बसे मृग धुठें वन माही । अंतरात्मा के सत्य के साक्षात्कार के लिए हमें अंतर्मुखी होकर वाह्य जगत से विरक्त अंतर के अमिट मौन मे ,गहन समाधि में जाकर स्वयं को खोजना पड़ेगा । यह , एक दुर्लभ तप है और यह तभी सम्भव है जब हमारी बहिर्मुखी वृत्तियाँ रुक जाए ।

धर्म व्यक्तिगत होता है तथा हर व्यक्ति को अपना सत्य स्वयं खोजना पडता है संत महात्मा गुरुजन हमें राह तो दिखा सकते है परंतु चलना स्वयं ही होता है

【 17 】 भेदव्यपदेशाच्च ।। १.१.१७ ।।

जीव और आत्मा का भेद करते हुए ही "आनन्दमयोऽभ्यासात्" का उपदेश हुआ है । आनन्द आत्मा का ही रूप है । जीव को स्वयं मे आनन्द नहीँ है । इस भेद को समझते हुए आत्मा के आनन्द मे ही जीव को रहना चाहिये तथा वाह्य जगत मे निम्मित आत्मभाव से निम्मित कर्म करना ही सत्य रूप में तप और मोक्ष का मार्ग है ।

जीव और आत्मा के भेद को जानकर ही हम, आनन्द क्या है ? और कहा है ? इस रहस्य को जान पायेंगे । जैसा की पूर्व सुत्रों में आया है "आनन्दमयोऽभ्यासात्", का अर्थ है कि आनन्द आत्मा का ही रूप है जीव स्वयं मे आंनद नहीं है । वाह्य जगत के सारे आनन्द भ्रम मात्र है । स्थुल इन्द्रिया आत्मा के आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र है जिस प्रकार जब मोर के ह्रदय मे आनन्द की हिलोर उठती है तो वह नाचनें लगता है । यही नाचना आनन्द की

अभिव्यक्ति मात्र है । आत्मा के ही आंनद को विषयी व्यक्ति विषयो में, दम्भी दम्भ मे तपस्वी तप मे अनुभव करते है सत्य से परे सत्य को खोजना सबसे बड़ा असत्य है ।

जिस प्रकार सहस्त्रों सूर्य के उपस्थित होने पर भी जीव का मृत शरीर खुली आंख से भी जब नही देख पाता है तो यही तथ्य सन्मुख आता है कि जीवन और नेत्रो को प्रकाशित करके आनन्द की प्रतिति कराने वाला तो आत्मा ही है उसके न रहने पर सहस्त्रों सूर्य भी खुलीं आंख से लेटे शरीर जो द्रष्टि नही दे पाता फिर जीवनपर्यंत जो आंखों के द्वारा रूप रूपी विषय के आनन्द की जो प्राप्ति होती रही वह तो निश्चित ही भ्रम मात्र है आत्मा के आनन्द का ही अभिव्यक्ति रूप बहुत छोटा स्वरुप है यह आनन्द ।

वाह्य जगत में आनन्द नही है हर जीव जो आनन्द की अनुभूति करता है चाहे वह क्षणभंगुर सांसारिकता से संबंधित ही क्यो न हो वह आत्मा के बिना संभव ही नही है प्रत्येक जीव प्रत्येक अवस्था मे अपनी ही अंतरात्मा से आनन्द पाता है स्वयं को ही भोगता है आनन्द के लिए अपनी ही इन्द्रियों को भोगता है जो है तो प्रकाशित अपनी ही अंतरात्मा से ,वाह्य जगत यंत्र मात्र है इन्द्रिया अभिव्यक्ति है लेकिन आनन्द आत्मा के बिना सम्भव ही नहीं है

वैराग्य की सही परिभाषा भी समझनी आवश्यक है वैराग्य का यह नही की नीरस हो जाता , आनन्द से अपने को पृथक कर लेना , क्योकि आनन्द से पृथक होना सम्भव ही नहीं है आनन्द से पृथक होना अर्थात अपनी आत्मा से पृथक होना , फिर तो सबसे बड़ा वैरागी जीव का मृत शरीर ही होगा , क्या यह उचित है ? वैराग्य का अर्थ है की इस परम् ज्ञान को आत्मसात कर लेना की आनन्द तो अंतरात्मा मे ही है जो आत्मा की ही भाँति नित्य अजर अमर अविनाशी अर्थात सनातन है इसी आत्मा के नित्य आनन्द से अद्वैत करना ही वैराग्य है

जिसने आत्मा के नित्य आनन्द को प्राप्त कर लिया वह स्थूल इन्द्रयों और वाह्य जगत में नित्य आनन्द को खोजने की चेष्ठा भला क्यो करेगा ? इसीलिए वैराग्य प्राप्त होने से वाह्य जगत और स्थूल इंद्रीयों से राग स्वतः नष्ट हो जाता है ।

【 18 】 कामाच्च नानुमानापेक्षा । १.१.१८ ।।

"कामाच्च न अनुमान अपेक्षा"

कामाच्च = कामनाओं इत्यादि ।

न = नहीं ।

अनुमान = मूल्यांकन ।

अपेक्षा = न ही अपेक्षा आत्मा से अन्यत्र हो सकती है । आत्मा ही पूर्णकाम तथा परमानन्द है

कामनाओं का कोई अनुमान नहीं है न ही अपेक्षा । यह सूत्र सभी के लिए है । कामनाओं और इच्छाओं का कोई अनुमान नहीं है । और इनकी अपेक्षाओं से हटना भी आसान नहीं है । पूर्णकाम होने के लिए आत्मा को ही मात्र इच्छा बना लेना चाहिये । आत्मा की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए समस्त स

कामनाओं और इच्छाओं को आत्मा में अर्पित कर " आनन्दमयोऽभ्यासात् ” , आत्मा के आनन्द का अनुभव करना ही जीवन की राह है ।

इच्छा करके कर्म करना पाप है । आत्मा के निमित्त होकर कर्म करने से ही ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त होती है । इस प्रकार बारम्बार आत्मा में योग कर उसी में स्थित होने का प्रयास ही मोक्ष का मार्ग है । ऐसा सम्पूर्ण श्रुतियों , स्मृतियों तथा धर्म ग्रन्थों ने माना है । बदले की भावना से किया गया कर्म हमें ईश्वर से दूर कर देता है

किसी फल की इच्छा करके किया हुआ कर्म आसक्ति उत्पन्न करता है और आसक्ति ही जीव को कर्म बन्धन में बांधती है बन्धन ही मुक्ति के लिए सबसे बड़ा अवरोधक है अतः इच्छा करके किया हुआ कर्म लक्ष्य के विपरीत है अतः वह अनुचित है

भरत की तरह निम्मित भाव से गृहस्थी का राज्य चलना ही मुक्ति की राह है क्योकि संचालक कर्ता धर्ता तो हर घट मे रमण करने वाले आत्मा श्री राम के चरण ही है भक्ति में रत हुआ जो वही तो भरत है वही तो मोक्ष को प्राप्त करेगा । भक्ति वही करता है जो भक्त है और जो अपने आराध्य ,अपने आत्मा से कभी विभक्त न हो सदा अद्वेत अवस्था मे रहे वही तो भक्त है मुमुक्षु को इच्छा और कामना लक्ष्य से भटकाती है क्योकि इच्छा और कामना की कोई सीमा ही नही है यह दलदल है जितना इच्छा करोगे ईच्छा पूर्ण करने का प्रयास करोगे यह दलदल जीव को उतनी ही फ़सायेगी ।

अतः निम्मित बनकर आत्मा को कर्तारूप में स्वीकार करना ही मुक्ति है यही है निष्काम कर्म योग यही है न्यौछावर भाव । यही परम् लक्ष्य तक पहुचने का मार्ग है मोक्ष मार्ग है आत्माद्वेत (आत्मा से अद्वेत) का मार्ग है ।

【 19 】 अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । १.१.१९ ।।

अस्मिन , अस्य , च , तद , योगम् ,शास्ति

यूँ ऐसे तथा आत्मा मे योग स्थित होने को ही मोक्ष का मार्ग सम्पूर्ण श्रुतियों स्मृतिओं तथा धर्म ग्रन्थों ने माना है । आत्मा मे नित्य स्थित होना ही सत्य है । सबकी राह भीतर आत्मा मे जाती है आत्मा से जुड़ जाना ही शास्त्र का उद्देश्य है ।

इन्द्रिया बहिर्मुखी होने से बाह्य जगत के मिथ्या भाव मे चाह प्रत्येक जीव की रहे वह स्थूल बात है परंतु सुक्ष्म रूप से सम्पूर्ण श्रुतिओं स्मृतियों शास्त्र ने आत्मस्थ होने का लक्ष्य ही दर्शाया है उसी राह की यात्रा आत्मा से योग अथवा अत्माद्वेत (आत्मा से अद्वेत) सम्भव कराएगी । आत्मस्थ जीव ही मुक्त है क्योकी आत्मा मे स्थित हुआ जो वह सदा मुक्त ही है आत्मा को बन्धन केसा ? ।

【 20 】 अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १.१.२० ।।

अन्तस्तः (अन्तर्स्थित) , धर्मा , उपदेशात्

अन्तस्तः अन्तर्स्थित ,

धर्माः = धर्म है । ,

उपदेशात्- उपदेशित हुआ है ।

आत्मा में स्थित होना , आत्मा के आनन्द को ही सर्वस्व मानकर , आत्म-स्थित , आत्म - निमित्त होकर जीना ही वेदोक्त सनातन धर्म है । ऐसा ही उपदेश सभी धर्म ग्रन्थों में हुआ है । अन्तर में स्थापित होना , आत्मस्थ होना ही सभी धर्मों में उपदेशित हुआ है ।

धर्म वही है उपदेशित करता है जो आत्मा के संग जीना शिखाये जीव को आत्मस्थ आत्मसंगी बनाये , ऐसा धर्म अर्थात सनातन धर्म ही मूल धर्म है ।

आत्मा के अतिरिक्त कोई हमारे जीवन को धारण नहीं कर सकता हमारा सम्पुर्ण जीवन मात्र आत्मा ने धारण किया हुआ है अतः धर्म वही उपदेशित करता है की सत्संग अर्थात आत्मा के सत का संग करें आत्मसंगी बने यही वास्तविक धर्म है यही धर्म का उपदेश है धर्म ने ईश्वर को कभी अपने से दूर नहीं बताया अन्नतानन्त ब्रह्मांड को भी धर्म ने अंतर्जगत मे दर्शाया है क्योकि अन्नतानन्त ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले परमात्मा का सूक्ष्म रूप मे बन के आत्मा हमारे भीतर विराजित हैं ।

【 21 】 भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।। १.१.२१ ।।

भेद आदि का उपदेश जो अन्यत्र हुआ है वह भी समझना चाहिए । जीव और आत्मा का भेद तथा शरीर से जीव का भेद भी समझना चाहिए । जीव और आत्मा के भेद को योग द्वारा अद्वेत करना , भेद को मिटाकर एकात्म होना परम लक्ष्य है । भेद के मार्ग से उपराम

होना तथा आत्मा से अभेद होना ही पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति है । भेद क्यों है ? इस प्रश्न क उत्तर यह है कि भेद इसलिए है कि आत्मा तो सम्यक रूप से सबमें व्याप्त है, परन्तु हम (जीव) आत्मा में व्याप्त (स्थित) नहीं है । इसलिए संसार में भेद दिखाई देता है । भेद का जो उपदेश अन्यत्र हुआ है उसे भी समझना चाहिए । जीव और आत्मा के भेद को योग द्वारा मिटा कर , भेद को मिटाकर अभेद होना ही हम सबके जीवन का परम् लक्ष्य होना चाहिए ।

ईसी तत्व को महाभारत लीला ग्रंथ में दिखाया गया है कि एक ही शरीर रूपी रथ पर जीवात्मा (अर्जुन)एवं आत्मा (कृष्ण) सवारी कर रहे हैं । शरीर

रथ का संचालन आत्मा (कृष्ण) कर रहे हैं । इसी प्रकार हम भी जीव रूप से इस शरीर पर सवार हैं , परन्तु इस शरीर के एक कोश का भी निर्माण का ज्ञान हमें नहीं है । इस शरीर को सांस धड़कनों आदि से आत्मा ही जीवित रखता है वही भोजन को रक्त , माँस आदि कोशों में परिवर्तित कर इस शरीर रथ का संचालन करता है जैसे महाभारत युद्ध में श्री कृष्ण ने अर्जुन के रथ का किया था ।

भेद जगत संसार है अभेद होना इसकी परिणीति है जिस प्रकार महाभारत युद्ध में श्री कृष्ण ने शस्त्र नही उठाया था उसी प्रकार भेद जगत की मायाओं से जीव रूपी अर्जुन को स्वयं ही युद्ध करना होता है इसी माया महासमर को महाभारत कहते है जीसे प्रत्येक जीव को लड़ना पड़ता है महाभारत प्रत्येक प्राणी की कथा हैं ।

【 22 】 आकाशस्तल्लिंगात् । १.१.२२ ।।

जीव की उत्पत्ति तथा स्थाप्य आकाश ही है । शरीर , माया में आकाश को स्थापित करने की व्यवस्था जीव के लिए आत्मा द्वारा बनाया गया एवं संचलित , रक्षित , जीवन्त , घर है । अतः योग जीव का आत्मा से है न कि शरीर और जीव से योग की चर्चा है । शरीर रूपी जीवन्त घर मे जीव और आत्मा का योग द्वारा अभेद , अद्वेत , एक होना ही जीवन का लक्ष्य है

जीव की उत्पत्ति आकाश (क्षीरसागर) में होती है आकाश के बिना पृथ्वी (ग्रहों) की माया (गुरुत्वाकर्षण) में जीव नहीं रह सकता ! आकाश को स्थापित करने के लिए ही शरीर की रचना आत्मा जीव के लिऐ करता है ।मायाक्षेत्र में जीव शरीर में स्थित आकाश के सहारे रहता है । क्षीरसागर आकाश (माया रहीत क्षेत्र) मे जीव पञ्च भौतिक शरीर के बिना अपने मूल तेजस रुप में रहता है जो कि उसकी स्वाभाविक स्थिति है । उसका निज धाम है । जीवन और जल की उत्पत्ति आकाश (क्षीरसागर) में ही होती है

【 23 】 अत एव प्राणः ।। १.१.२३ ।।

अत एव आकाश ही प्राणों का मूल है । जीवात्मा आकाश में रहता हुआ ही प्राण पल्लवित होता है । माया (गुरुत्वाकर्षण) में शरीर ही आकाश की व्यवस्था है ।

आकाश ही महा विष्णु का रूप है तथा उनके नाभिकमल अर्थात आकाश (क्षीरसागर) का जो मध्य बिन्दु है वहाँ ब्रह्मा जी का वास है तथा समस्त जीवों , सचराचर की उत्पत्ति का स्थान है ।

शरीर की व्यवस्था माया क्षेत्र (गुरूत्वाकर्षण) में प्राणों को रखने के लिए बनाई गई है । जैसे बैटरी का सेल जब ऊर्जा से रहित हो जाता है तो हम कहते है कि सेल खत्म हो गया है ! एक दूसरे प्रकार का भी सेल होता है जिसे दुबारा चार्ज किया जा सकता है । शरीर भी एक रीचार्ज होने वाला सेल है एक सीमित अवधि तक । शरीर निरंतर मायाओं (गुरुत्वाकर्षण) के प्रभाव में लड़ता है । जिससे शरीर में स्थित आकाश (क्षीरसागर) बना रहे जीव के रहने के लिए । आत्मा हमें कैसे जीवित रखता है । इसका ज्ञान हमें नहीं है । शरीर के प्रत्येक कोश की आयु सीमित है ।अमर आत्मा शरीर में निरन्तर नए कोशों (सेल) का निर्माण न करे तो हम सब मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ ।

【 24 】 ज्योतिश्चरणाभिधानात् । १.१.२४ ।।

ज्योति = आत्मज्योति (ब्रह्म ज्योति , दिव्य ज्योति) ।

चरण = मार्ग , ध्यान , राह ।

अभिधानात् = उपमा , सन्मान , पहचान , प्रतिष्ठा है !

आत्मज्योति मे चरणबद्ध निरंतर व्याप्त होते रहना , ज्योति को ही जीवन का तप राह पहचान मानकर आत्म निमित्त आत्मस्थ योग द्वारा आकाश में स्थापित अपनी पहचान प्रतिष्ठा को प्राप्त होना , मानव जीवन का मात्र उदेश्य है

जीवात्मा का स्वरूप ज्योति का है और ज्योति मे ही व्याप्त हो जाना , लय हो जाना ही जीवात्मा का आत्मा में लय हो जाना है जीव ज्योति का अनन्त ज्योति आत्मा में विलय ही मोक्ष है ।

【 25 】 छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न चेतोऽर्पण निगदात्तथाहि दर्शनम् । १.१.२४ ।।

छन्दा: , अभि , धा , ना: , नेति , च , न: , तथा , चेत: , अर्पण , निगदात: , दर्शनम्

छन्दा: = जीवन एवं मृत्यु , विष और अमर होना , गायत्री छन्द ।

अभि: = व्याप्त , सन्मुख होते ।

ध = धारण ।

ना: = हम सब ।

नेति (न इति) = बारम्बार ।

तथा = तथा ।

चेत: = चैतन्यता पाते ।

अर्पण = यज्ञार्पण होकर ।

निगदात: = व्याख्यानोपख्यान ,

वाद-विवाद , उपदेश , कथोपकथन ।

हि = अन्तरव्याप्त होना ही ।

दर्शनम् = आत्मदर्शन ही अध्यात्म का सत्य मार्ग है

आत्मदर्शन ही अध्यात्म का सत्य मार्ग है । ईश्वर का दर्शन अपनी आत्मा में ही होता है । आत्म ज्वालाओं मे जिस प्रकार मरी हुई मिट्टी यज्ञ होकर पुनः जीवन्त होकर हम जैसे स्वरूप मे लौट रही है पाप और प्रायश्चित से मुक्त होकर तो हे मन हमारे ! आओं उसी आत्म-यज्ञ मे समाधिस्थ होकर प्रभु मे व्याप्त हो जाए । जीवन - मृत्यू , विष - अमृत , के सन्मुख होते हम सब बारम्बार उसी से चैतन्यता प्राप्त करते है

【 26 】 भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् । 1.1.26 ।।

भूत , आदि , पाद: , उपदेश , उपपत्ते: , च , एवम्

भूत = जीव , भूत प्राणी

आदि = इत्यादि

पाद: = प्रगट , चरण , उत्पन्न हुए

उपदेश: = ऐसा सभी वेदादिक ग्रंथो मे उपदेशित हुआ ।

उपपत्ते = जीव ब्रह्म की ही उत्पत्ति है ब्रह्म की ही प्रगट सन्तति है ।

च = तथा

एवम् = इस भांति सभी उपग्रन्थों तथा व्याख्याओं उपदेशो मे ग्रहण किया है । ब्रह्म ही सचराचर जनक तथा जीव मात्र का सत्य परिचय है

समस्त जीव भूतादिक , उत्पन्न होने वाले जीव , यह संज्ञा ब्रह्म से है । जीव की उत्पत्ति , पहचान आदि ब्रह्म से है । जीव ब्रह्म की मानस सृष्टि है । शरीर की उत्पत्ति भी ब्रह्म के ही द्वारा है । ऐसा उपदेश सभी वैदादिक ग्रन्थों मे हुआ है।

आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। ब्रह्म अर्थात आत्मा का ही अंश जीव है । आत्मा ही जीव जनक है ।

श्रीमद्भगवत गीता जिसमे आत्मा एवं जीव का संवाद ही कृष्णार्जून संवाद के रूप में दर्शाया है ।

उसी मे आत्मा रूपी श्री कृष्ण जो ब्रह्म है उनका वचन है कि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" ।।15.7।। अर्थात इस संसार मे सभी जीव मेरे (कृष्ण ,

आत्मा , ब्रह्म) ही सनातन अंश है

स्पष्ट है यहा जीव की उत्पत्ति पालन लय सब ब्रह्म से ही सम्भव है आत्मा से ही सम्भव है

【 27 】 उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।।1.1.27 ।।

अन्य स्थान पर भेद के उपदेश जो नाना प्रकार से हुए हैं , उसमें भाव का भेद कदापि नहीं है । व्यवहार बर्ताव आदि के हित के उपदेश को विरोध नही समझना चाहिए । यथा = " एकोऽब्रह्म द्वितीयोऽनास्ति ' , ब्रह्म अर्थात आत्मा ही सम्यक भाव से सचराचर का जनक है । परन्तु व्यवहार जगत , उपदेश में , पुरूष , स्त्री , पशु , पक्षी , पेड़ , पौधे , अन्य जीवधारी तथा मातृधर्म , पितृधर्म , पुत्र , पौत्रदिक धर्म आदि में भेद को विरोध नहीं समझना चाहिए . भाव बदल जान के कारण आध्यात्मिक ग्रन्थों के अर्थ भी बदल गए हैं । जगत भाव प्रधान है । जब हमारा भाव अन्तर्मुखी होता है तो आत्मा से जुड़कर भक्ति को बढ़ाता है । भाव जब बहिर्मुखी होता है तो भौतिक अतृप्तियों में भटकता है । भौतिकताओं को प्राथमिकता देकर भक्ति नहीं होती है । बहिर्मुखी भाव और मनोवृत्तियों के कारण हम स्वयं को नहीं जान पाते ।

हमारी पहचान हमारी आत्मा में है । हमारा उद्गम आकाश (क्षीरसागर) से है । अन्यत्र जो भेद जगत को सामने रखकर उपदेश किए गए हैं , वह स्थिति भेद है , उन्हें विरोध

के रूप में नहीं लेना चाहिए । वाह्य जगत एक निमित्त जगत है , आत्म - जगत में प्रवेश का पूर्वाभ्यास है । एक ही आत्मा सबमें है , परन्तु स्वयं को माँजने , धोने , मन को पवित्र करने के लिए व्यवहार जगत है

【 28 】 प्राणस्तथाऽनुगमात् । १.१.२८ ।।

प्राणों को आत्मस्थ तथा (मन एवं प्राण सहित) आत्मा (ब्रह्म) का निरन्तर अनुगमन करना एवं आत्मा निमित्त जीवन को आत्मवत् धारण करना ही धर्म का मार्ग (उपदेश) है ।

ब्रह्म - सूत्र स्वप्रेरणा के सूत्र है । प्राणों को ब्रह्म (आत्मा) में स्थित करते हुये उसी का अनुगमन करना तथा स्वयं को आत्मा का निमित्त मानकर जीने से जीवन की हर राह एक तप के समान हो जाती है । यही धर्म का मार्ग है ।

" अनुगमन " , आत्मा की राह का अनुगमन उसमें निरन्तर आगे बढ़ते रहना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है । गति ही जीवन है तथा ठहराव मृत्यु । जल की धारा के समान जीवन निरन्तर गतिमान है । शरीर में श्वास - प्रश्वास , धड़कने निरन्तर आत्मा के द्वारा चलायी जा रही है । सभी ग्रह - नक्षत्र परिक्रमाओं में गतिमान हैं । वाह्य जगत की भौतिकताओं (मकान , दुकान आदि) में जीवन का स्थायित्व खोजना मृत्यु समान है । श्री राम कथा में केवट जो बहती गंगा की धाराओं में स्वयं को खोजता है वही श्री राम के असली मर्म को समझ

पाता है ।

प्रकृति का गुण "गति" है प्रकृति ही परा शक्ति है अतः जीवनी शक्ति को प्रकृति ही दर्शाती है गति का अवरोधन जीवन का अवरोधन है अतः आत्मा के लक्ष्य की और निरंतर आगे बठना ही धर्म का उपदेश है क्योकि जीव की यात्रा सनातन है अतः नित्य अजर अमर अविनाशी यात्रा हो उसमें अवरोधन का स्थान ही कहा ?

सनातन धर्म में मूल ग्रन्थ कोई स्थूल पुस्तक नहीं अपितु साक्षात प्रकृति ही मूल धर्म ग्रन्थ है ! जिसे स्वयं आत्मा निरंतर लिख रहा है जिसका अक्षर मात्र हम सब है क्योकि हमारा क्षर या क्षय सम्भव नहीं ! अक्षर तो वही है जिसका क्षय या क्षर न हो ! प्रत्येक जीव ईश्वर का अंश होने से अविनाशि है वही अक्षर मात्र है परंतु ग्रन्थ की गाथा यह है कि प्रत्येक अक्षर में सम्पुर्ण ग्रन्थ की गाथा प्रतिपादित है अतः ईश्वर के लिखे मूल धर्म ग्रंथ को समझना है तो आत्मा बन के लिख रहे अक्षर रूपी स्वयं जीव है उसे ही पठना होगा तभी धर्म के मूल संदेश को आत्म गुरु बृहस्पति की कृपा से ज्ञात कर सकते है

【 29 】 न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।1.1.29 ।।

न वक्तुः = नहीं कहा गया है ।

आत्मोपदेश = आत्मा के उपदेश ।

इति = इस भाति ।

चेत् चैतन्य , ग्रहण किया गया , स्वीकार किया गया ।

ध्यात्म = आत्मस्थ , आत्मा के प्रति , आत्मनिमित्त ।

सम्बन्ध - संबंध , भाव , जुड़ाव ,।

भू- होना ।

मा- नकारते हुए ।

हय् = व्याप्त ।

अस्मिन = ऐसे ।

अर्थात् भौतिक तथा अध्यात्म को अलग - अलग मानकर जीने को अध्यात्म अथवा धर्म नहीं स्वीकार किया गया है । निमित्त आत्मस्थ सम्पूर्ण जीवन ही सत्य है ।

ब्रह्म - सूत्र (वेदान्त सूत्र) में कोई भी ऐसी बात कभी नहीं गयी है जो कि हर ओर क्षण भंगुर जगत में न घट रही हो । भौतिक (व्यवहार) जगत और आध्यात्म को अलग - अलग मानकर जीना धर्म में नहीं स्वीकार किया गया है । भौतिक जगत के भी सारे संबंधों का आधार आत्मा ही है , जो हमें सहस्त्रों बार निम्न योनियों से पवित्र कर ऊपर उठाता है तथा जड़ता से चैतन्यता में लाता है , जीवन के क्षण देता है ।

【 30 】 शास्त्र दृष्टया तूपदेशो वामदेववत् ।। 1.1.30 ।।

शास्त्रदृष्टया = शास्त्र सम्मत , शास्त्रों की दृष्टि में आत्मा के वामांग ही जीवात्मा को उपदेशित किया गया है ।

गायत्री मंत्र का मूल "तत्सवितुर्वरेण्यम्" का भाव भी यही है कि जीवात्मा का आत्मा (सूर्य) सविता से वरण ही सत्य है ।

उस ब्रह्म को जिसने जाना वही ब्रह्मरूप हो गया । वामदेव आदि ऋषि ने जो ' "अहं ब्रह्मास्मि" महावाक्य का उद्घोश किया उसका भी अर्थ ब्रह्म की अभेद अवस्था को पाना है जो भी महापुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है वह उसके साथ एकता का अनुभव करता हुआ ब्रह्मभाव से ऐसा कह सकता है ।

【 31 】 जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविद्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् । ।१.१.३१ ।।

जीवात्मा मुख्य रूप से प्राण के रूप (नाम , पहचान) से चिन्हित (लिन्गान) होता है । इस प्रकार (इति) तथा (च) अन्य उपासना (अन्नोपास) त्रिविध साधना (विध्याश्रित) के आश्रित द्वारा (वा) तथा अपने में देह (त्वरित) इस प्रकार आत्मा से अद्वेत योग करना (तद , योगात्) यही अध्यात्म धर्म का मूल मंत्र है ।

ब्रह्म ईश्वर के अनुसार जीवात्मा मुख्य रूप से प्राण के रूप (नाम , पहचान) से चिन्हित होती है । हमारी पहचान भौतिक शरीर नाम एवं रूप से होती है , परन्तु यह भी सत्य है कि आत्मा से ही भौतिक (स्थूल) शरीर का अस्तित्व है । इसी शरीर में स्थापित महाशून्य माया रहित क्षेत्र जहाँ गुरुत्वाकर्षण का प्रवेश नहीं है । ऐसे महाशून्य को ही गर्भ कहा है , जो कि प्रत्येक जीवधारी में होता है । इसी गर्भ से जीवन प्रत्येक क्षण प्रकट हो रहा है । जब जीवात्मा के रूप में हम आत्मा (ईश्वर) से ही प्रकट हो रहे हैं तो हमारी पहचान भी आत्मा से अलग कैसे हो सकती है और हमारा अन्त भी आत्मा में ही होना चाहिए तभी अनन्त अमरता (मोक्ष) का मार्ग मिलेगा ।

इति श्री ब्रहासूत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय प्रथम पाद्

गोविन्द हरि

नारायण हरि

हरि ॐ नारायण हरि

परम् पूज्य वेदमूर्ति गुरुदेव स्वामी सनातन श्री महाराज जी का पावन सद्ग्रन्थ

"हरि ॐ नारायण हरि"

"ब्रह्मसूत्र"

(श्री सनातन भाष्य)

प्रथमाध्याये - द्वितीय पादः

【 32 】 सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १.२.१ ।।

सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेशात् ,

सर्वत्र सभी ग्रन्थों में धर्माचार्यो ने समवेत स्वर से पूर्वोक्त प्रथम अध्याय के सभी सूत्रों में इसी (ब्रह्म) का उपदेश किया है ।

हर और सर्वत्र यही उपदेश हुआ है कि आत्मा (ब्रह्म) ही प्रत्येक स्वरूप को प्रगट कर रहा है । यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म (आत्मा) से ही उत्पन्न हो रहा है । कोई भी व्यक्ति सत्य का आचरण तभी कर सकता है, जब वह सत्य को जानता भी हो । वाह्य जगत निम्मित जगत है अन्तर जगत ही सत्य है ।

सत्य को जानना भी अपने में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है और उसपर आचरण करना स्वयं में स्वर्ग का सुख है । जो सत्य की अमर राह पर नहीं है वह कभी अमर पद की प्राप्ति भी नहीँ कर सकते है ।

【 33 】 विवक्षितेगुणोपपत्तेश्च । १.२.२ ।।

वि , विक्षित , गुणः , उपपत्तेः , च

विशिष्ट एवं व्यापक रूप से आलिंगनबद्ध है , गुण सम्पुर्ण आत्मा ब्रह्म के तथा आत्मा में व्याप्त है बीज रूप से ।

सभी गुणों का जनक आत्मा ही है । इनका आत्मनिमित्त प्रयोग ही धर्म है

विशेष एवं व्यापकरूप से उस आत्मा के वक्ष (ह्रदय) से लिपटे हुए जीने का ही हमारा ध्येय होना चाहिए ।

【 34 】 अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।। १.२.३ ।।

अनुपपत्त = अनुसरण , व्याप्त ;
अस्तु = होना ;
न = नही ;
शारीरः = देहाभिमान में ;

आत्मा के ही गुण धर्म को सर्वत्र मानना , उसी का अनुसरण करना ही धर्म है मात्र देह (शरीर) के हित् में जीना, अनुचित एवं अधर्म है

आत्मा का वस्त्र ही हमारा कवच है । जिनकी चेष्टाएँ, सोच मात्र शरीर तक ही सीमित है वे आत्मा को नहीं जान सकते है

गुरुकुल से दो शिष्य शिक्षा पूरी कर निकले । गुरु ने कहा की

संसार में काटे ही काटे है सो तुम कैषे चलोगे ?पहले शिष्य ने कहा कि झाड़ से राह बनालूङ्गा। दूसरे ने कहा पादुका धारण जर लूंगा ।

नकारात्मता को महत्व नहीँ देना चाहिए ! जगत भी सत्य है वासुदेवमय है !

【 35 】 कर्मकर्तूव्यपदेशाच्च ।। १.२.४ ।।

कर्म = जीवन के सम्पूर्ण कर्म ।

कर्तुव्य = कर्तव्य आदि (सभी प्रकार के भौतिक , दैहिक , अद्यात्मिक आदि)

उपदेशाच्च = इसी भाव से उपदेशित हुए है ।

आत्मभाव से सभी प्राकृतिक, भौतिक तथा आत्मिक कर्म एवं कर्तव्य का ही उपदेश हुआ है

आत्मा के विपरीत न तो कोई गृहस्थ, समाझ,राज धर्म है

वाह्य जगत निम्मित जगत है ; और उसका आधार और अस्तित्व आत्मा ही है आत्मा के देह से हटते ही सब नैमित्तिक धर्म (तथाकथित रूप से कहे गए वास्तविक धर्म) धरे के धरे रह जाते है न फिर कोई देह गृहस्थ रहता है , न कोई देह राजा अतः सत्य रूप में आत्मा ही सभी प्राकृतिक भौतिक तथा अद्यात्मिक कर्म का आधार है ; और आत्मधर्म ही मूल धर्म है आत्मा से भिन्न किसी भी धर्म का अस्तित्व टीक नही सकता , क्योकि आत्मा ही सनातन अर्थात नित्य अजर अमर अविनाशी है बाकी सब क्षणभंगुर नाशवान है ।

【 36 】 शब्दविशेषात् । १.२.५ ।।

शब्द = सदग्रंथो ,ऋषियो की वाणी , सत्संग , उपदेशमें ,

विशेषात् = इसे ही (पूर्वोक्त आत्म निम्मित कर्म) कहा गया है । आत्मा के निम्मित ,आत्मा के तदरूप कर्म ही धर्म है

ब्रह्मसूत्र तथा वेद की ऋचाओं तथा अन्य सदग्रन्थो में यही उपदेशित हो रहा है कि हम सब देवयान (आत्मा) के द्वारा ही उस संसार में लाये गए है इसलिए हमारा गमन भी देवयान के द्वारा ही हो ! आत्मा की राह पर ही समस्त संत , ऋषि , देवतागण गए है, इसी मार्ग का हमे भी अनुसरण करना है वेद-ब्रह्म सूत्र हमारे भीतर की आंख खोलते है सनेत्र भक्ति कभी खण्डित नही होती है । ईश्वर के मार्ग में कोई पीड़ा दुख आदि नहीं है ।

【 37 】 स्मृतेश्च । १.२.६ ।।

स्मृतेश्च = स्मृतियों ने भी उपरोक्त आत्म निमित्त धर्म के विधान को ही अंगीकार किया है । आसक्त धर्म का सर्वथा निरोध किया गया है तथा इसे अधर्म कहा गया है ।

जो आत्मा से जुड़ जाता है , वही आत्म निमित्त धर्म को पाता है , यही स्मृतियों का कथन है ।

वेद आदि सद्ग्रंथों का ज्ञान हमें अपने भीतर अपनी आत्मा में ठहरने का मार्ग देते हैं । भक्त की भावना के अनुरूप ही आत्मा रूप धारण करता है , यही आत्म दर्शन है । मन्दिर व मूर्तिपूजा का विधान मन को आत्मा के साथ जोड़ने के लिए किया गया था परन्तु कालान्तर में इसे चमत्कार एवं मनोकामना सिद्ध करने का साधन मान लिया गया जोकि दुर्भाग्यपूर्ण रहा और लोगों की आस्था मन्दिर व मूतियों में कम

होने लगी । मूर्तिपूजा के द्वारा हम अपने मन के खालीपन को भर सकते हैं और मन के भटकाव से बच सकते हैं । मूर्तिपूजा एक महा मनोविज्ञान है ।

जैसा मन होगा वैसा ही तन होगा । मन अगर स्वस्थ ईश्वर की भक्ति में रहेगा तो तन भी निरोग रहेगा । मुर्तिपूजा ही अन्तर्चक्षु (दिव्य चक्षु) को खोलने का मार्ग है । मूर्ति के रूप में भक्त अपने मन को बांधता है फिर मन जो उसी रूप में बसाकर उसे अपनी आत्मा में उतारता है यही आत्मा से अद्वेत की क्रिया है तथा योग का मार्ग है

जो अपनी आत्मा से प्यार करता है, वही सचारचर को भी प्यार कर सकता है आत्मा ही हमे जीवन का प्रत्येक क्षण दे रहा है । जिसने इस इतिशय करूणा निधान आत्मा को नहीं अपनाया उसने फिर संसार के किसी भी संबंध का निर्वाह नही किया है । स्मृतियों ने भी आत्म निम्मित धर्म के विधान को ही स्वीकार किया है ।

【 *38* 】 अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेत्ति चेन्न , निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च । १.२.७ ।।

सूक्ष्म , क्षीण (अर्भकौकस) है , वह ब्रह्म , ऐसे कहा गया (वा) तथा (तद) इस भाँति उपदेशित हुआ (व्यपदेशाच्च) तथा (च) , नहीं अन्त (नेति) न इति जिसका । तथा (च) , नहीं (नः) , हृदय में (निचाय्यत्वा) , सूक्ष्म , व्याप्त ईश्वर (देवम्) , आकाश का सूर्य है । (व्योमवचः)

ब्रह्म को सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपदेशित किया गया है , जो हृदय में सूक्ष्म होकर विराजते हैं तथा आकाश के सूर्य भी वे ही हैं । वह ब्रह्म सूक्ष्म है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी उसमें समा जाते है और उसका विस्तार नही पाते ।

वह परब्रह्म तथा परंब्रह्मा है परंब्रह्म (परम् = पूर्ण व्याप्त । ब्रह्म = नन्हें सूक्ष्म बिन्दु में) परंब्रह्मा (परम् = पूर्ण व्याप्त होकर भी ब्रह्मा = ब्रह्माण्ड नहि पाते विस्तार जिसका) पूर्ण परिचय के बाद ही हम किसी से अंतरंग मित्रता करते हैं , उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने के बाद ही हम स्वयं को आत्म (ईश्वर) में मिलाकर अद्वैत कर सकते हैं ।

【 39 】 सम्भोग प्राप्तिरिति चेन्नः, वैशेष्यात् । १.२.८ ।।

सम्भोग प्राप्ति में ही सम्पुर्ण जीवन की इति (समापन) है ऐसा ही विशेष है, यह सत्य नही है मानव जीवन इससे विलग आत्मभाव में व्याप्त होकर है ।

पशु तुल्य कृत्व - भोगों की प्राप्ति , भूख मैथुन , निद्रादि कर्म मानव जीवन की विशेषता अथवा उद्देश्य कदापि नहीं है ।

मात्र विषय भोगों की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानना एवं उसी की प्राप्ति के लिए कर्म करना उचित नहीं है । इस तरह जीना पशु से भी निकृष्ट जीना है । भोगों की प्राप्ति के लिये विशेष रूप से पशु भी प्रयास नहीं करते हैं , वह उन्हें स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं । मनुष्य होकर भी पशु तुल्य कृत्य - भोगों की प्राप्ति , भूख , मेथुन , निद्रादि कर्म मानव जीवन की विशेषता अथवा उद्देश्य कदापि नहीं है ।

मनुष्य के यहाँ जन्म लेने मात्र से कोई मनुष्य नहीं हो जाता है । मनुष्यत्व को प्राप्त करना ही मनुष्य योनि को सार्थक करना है । जो अपने मूल उद्गम को नहीं जान पाते हैं , कि आत्मा (ब्रह्म) ही हमें उत्पन्न एवं पालन कर रहा है तथा स्वयं को सार्थक आत्मा से नहीं जोड़ पाते हैं , उनके लिए मनुष्य की योनि पीड़ाओं का घर है । जिसने स्वयं को जान लिया वही मनुष्य संसार में भी वैकुण्ठ सा सुखी रहेगा और अन्त में देवत्व को पाएगा ।

ईश्वर की दया और कृपा का गलत अर्थ नहीं लेना चाहिए । हम

जो भी कर्म करें ईश्वर (आत्मा) जो हमारे भीतर बैठा है प्रकट रूप से कुछ नहीं कहता तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने हमें कुछ भी करने की छूट दे दी है , ऐसा सोचना मूर्खता है । मनुष्य की योनि परीक्षा की योनि है , जहाँ आत्मा (ईश्वर) परीक्षक है जो हमें यह शरीर रूपी उत्तर - पुस्तिका तथा परिस्थितियों का प्रश्न पत्र देता है । जिस प्रकार परीक्षा में अगर हमें किसी प्रश्न का उत्तर नहीं आता है तो परीक्षक जो परीक्षा कक्ष में होता - है हमें प्रश्न का उत्तर नहीं बताएगा परन्तु अन्त में परीक्षा का परिणाम तो आएगा ही ।

उसी प्रकार मनुष्य योनि की जीवन रूपी परीक्षा में अगर हम अपनी आत्मा रूपी जड़ जो जीवन का सत्य है , उससे जुड़कर न जी पाए तो हमें फिर चौरासी लाख योनियाँ जो जीवन रूपी पाठशाला की कक्षाएँ हैं , उनमें फिर से पढ़ने जाना होगा ।

【 *40* 】 अत्ता चराचर ग्रहणात् ।। १.२.९ ।।

अत्ता = जगत माता , ब्रह्म-ज्वाला , यज्ञ परमेश्वर ।

चराचर ग्रहणात् = सम्पुर्ण सचराचर को ग्रहण कर जीवन्त करनेवाली है ।

स्रुष्टि का मूल है । जगत-जननी आत्म ज्वालायें ही सचराचर को अपने गर्भ में ग्रहण करके जीवन्त उत्पन्न करती है । ज्ञान के बिना भक्ति नही होती है तथा स्वयं को जानना ही मनुष्य योनि का उद्देश्य है जीवन एक दहकता हुआ यज्ञकुण्ड है जो हमारे भीतर अन्तर मे नित्य प्रज्वलित है इस यज्ञकुण्ड को ही आत्मा कहते है, जिसकी ज्वालाओं की शक्ति से ही बुद्धि , विवेक , वाणी तथा शरीर में चैतन्यता बनी रहती है । जीवन के कोलाहल में भी हमें सदैव उस आत्मा महान का स्मरण बनाये रखना चाहिए जो हमें मिट्टी से मनुष्य योनि में लाता है ।

जीवन की मंजिल प्रत्येक को तलाशनी होती है जगत-जननी ब्रह्मज्वाला ही सम्पुर्ण सचराचर जगत को अपने गर्भ में ग्रहण कर जीवंत करके उत्पन्न करती है । आत्मज्वाला यदि हम सब के भीतर प्रज्वलित न हो तो जीवन का अगला क्षण हमे नहीं मिलेगा ।

सनातन धर्म मे किसी काल्पनिक भगवान की कल्पना नहीं कि गयी है ईश्वर शब्द ऐश्वर्य से बना है , जिसका अर्थ है प्राणि मात्र को जो ऐश्वर्य दे , स्वयं को भुलाकर उसे ईश्वर कहते है । ईश्वर कोई दम्भ की उपाधि नहीं है , यह अतिशय विनम्रता का प्रतिक है जिसे पाना अति दुर्लभ है । संसार में रक्त , इन्द्रियोचित अथवा सामाजिक संबंधों को ही महत्व दिया जाता है , परंतु अध्यात्म जगत मे सिर्फ भाव जगत की ही मान्यता है तथा भाव वाला ही भक्ति पाता है ।

【 *41* 】 प्रकरणाच्च ।। १.२.१० ।।

उपरोक्त पुर्व बताये सुत्रों को धर्म-ग्रन्थो, श्रुतिओं , वेदादिक ने प्रकरण के रूप में सर्वत्र दर्शाया है । आत्म-यज्ञार्थ , आत्म सेवार्थ निम्मित कर्म ही मूल धर्म है

सारे प्रकरणो, ब्रह्म ईश्वर, श्रुतिओं तथा वेदों मैं जो कहा है वही सत्य है । जिस प्रकार नारायण सबमे व्याप्त होकर सारे सचराचर को धारण करते है, हमे भी ईश्वर निम्मित् होकर संसार को धारण करना चाहिए । सत्य रूप में जीव का विवाह तो उसकी आत्मा से ही होता है । आत्मास्थ धर्म यही है कि हम भी अपनी आत्मा श्री राम के सदृश बनकर जिये ।

【 42 】 गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । १.२.११ ।।

गुहाम् = देह , हृदय ।

प्रविष्ट = प्रवेश पाकर ।

व = तथा ।

आत्मानौ = आत्मा रूपी यज्ञ तथा ब्रह्म - ज्वाला रूपी माता यज्ञाग्नियों का ।

हि = अन्तर्व्याप्त ।

तद = इस भांति ।

दर्शनात् = दर्शन करें ।

परमेश्वर का दर्शन शरीर के भीतर प्रवेश कर के आत्मा में करो ।

शरीर रूपी गुहा के भीतर प्रवेश करके आत्मा में व्याप्त गुरू के दर्शन करो । आत्मा हमारा आराध्य है तथा आत्म ज्ञान ही हमारा गुरू है । जीव रूपी हम सब इस शरीर मन्दिर के पुजारी हैं । बाहर के असत्य , अज्ञान को बाहर ही जला कर , निर्मल होकर भीतर चलें जहाँ हमारा आराध्य आत्मा और आत्म-ज्ञान गुरू हमारा इंतजार कर रहे हैं ।

ईश्वर का दर्शन सभी करना चाहते हैं । जब ईश्वर आत्मा होकर हमारे भीतर बैठे हैं तो ईश्वर का दर्शन भी शरीर के भीतर आत्मा में ही होगा । आत्मा श्री कृष्ण के विराट रूप का दर्शन स्वयं अर्जुन भी साधारण नेत्रों से नहीं कर पाए थे । दिव्य चक्षु के द्वारा ही आत्मा श्री कृष्ण के दर्शन होते हैं । आध्यात्म के मार्ग में हमारे आत्म ज्ञान के रूप में देवगुरू वृहस्पति ही हमारे अंतर चक्षु (दिव्य नेत्र) को खोलने के अधिकारी हैं ।

ईश्वर अगर दर्शन देने इस शरीर से बाहर आ गए तो फिर इस मृत शरीर के साधारण नेत्र किसका दर्शन करेंगे ।

【 43 】 विशेषणाच्च । १.२.१२ ।।

विशेषण = ग्रह के नाम संज्ञा एवं

चः = विशेषणादि पर ध्यान देने से स्वतः स्पष्ट हो जायेगा । परमात्मा (परम + आत्मा) , परमेश्वर (परम + ईश्वर),

इस प्रकार जीवात्मा (जीव - आत्मा), आदि विशेषण को विशेष रूप में जान लेने पर तत्व , ध्येय एवं मार्ग सहज हो जाते है । विशेषणो की गहनतामें आये ।

जीवात्मा :- जीव जो आत्मा द्वारा ही जीवंत है । अभेद ब्रह्म को पठाने के लिए प्रतिको का सहारा लिया जाता है । सहज बुद्धि के द्वारा ही आत्म तत्व को समझा जा सकता है ।

【 44 】 अन्तर उपपत्तेः ।। १.२.१३ ।।

अन्तर = देह के अनन्तर , शरीर के भीतर

उपपत्तेः = (उप - व्याप्त , पत्तेः = स्थापित)

ब्रह्म (आत्मा) देह गुफा के भीतर ही स्थापित है । इसीलिए वाह्य जगत में विरक्त निमित्त जगत का भाव करते हुए अंतर्मुखी होकर ही ब्रह्म का दर्शन , ज्ञान , अनुराग एवं योग सम्भव है

सत्य (आत्मा) हमारे भीतर बैठा हमें पुकार रहा है ओर हम बाहर विषयों मैं ही भटक रहे है । हम अपने आत्मस्वरूप जीव रूप का दर्शन भी नहीं कर पाए है । हम सिर्फ शरीर के आवरण मे ही एकदूसरे को पहचानते है ।

【 45 】 स्थानादिव्यपदेशाच्च ।। १.२.१४ ।।

स्थान = स्थापित है उस स्थान पर ब्रह्म ,

आदि = आदि काल से निरंतर

व्यपदेशाच्च = व्याप्त, आत्मा के रूप में, शरीर के भीतर, हृदय प्रवेश में ।

सप्त लोक, सेवेन्थ हेवेन्थ, सात आसमानो में जिस ईश्वर की कल्पना करते है । वह ईश्वर घट घट वासी, आत्मा के रूप में व्याप्त है देह में सर्वत्र आदि काल से ।

ईश्वर का स्थान कहा है ? वह किस देश का वासी है ? इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि वह दिव्य ईश्वर हमारी देह रुप गृहा के भीतर सर्वत्र व्याप्त है । इसलिए साधक तपस्वियों को प्राणीमात्र में भेद नहीं करना चाहिए ।

【 46 】 सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।। १.२.१५ ।।

सुख = आत्मिक सुख जो सत्य है।

विशिष्ट = नित्य , विशेष एवं व्यापक

अभिधान = अभी – "सन्मुख", "व्याप्त" ; धान: – धारण करें ।। देह के भीतर आत्मा सन्मुख हो,

देव = आत्मा ईश्वर को प्राप्त हो ,

च = तथा ;

सत्य, नित्य सुख की अनुभूति करें !!

सच्चा सुख आत्मा में होता है । इन्द्रियों में कोई स्वयं का आनन्द नहीं होता है , वह केवल आनन्द की अनुभूति के साधन मात्र हैं । इसे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि मोर के भीतर आनन्द की हिलोर उठी तो पंख फैलाकर नाचने लगा । यहाँ नाचना कोई आनन्द नहीं है अपितु आनन्द की अभिव्यक्ति है । ईश्वर का दर्शन आत्म - ज्ञान से होता है । असत्य और अज्ञान तो परछाई मात्र हैं । जब हम अपने में पूर्ण हैं तो हमें अपनी पूर्णता में आना चाहिए । सुख का सागर हमारे भीतर हिलोरें भर रहा है और यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम बाहर आतृप्तियों में व्यर्थ भटक रहे हैं ।

【 47 】 श्रुतोपनिषत्कगत्यअभिधानाच्च [1.2.16]

श्रुत: = श्रुतिओं, वेद-वचनो,

उपनिषद = (उप - व्याप्त होना ; निषद - निकट ;) उपनिषद ग्रन्थो में ;

अगत: = नित्य एवं अगत आदि ग्रन्थों में

च: = भी

अभि = सन्मुख व्याप्त हो

ना: = हम सब

ऐसा कहा गया है कि परमेश्वर घट घट वासी आत्मा के रूप में सब में व्याप्त है । उन्हीं से अंतर्मुखी होकर योग करना ही सुख एवं मात्र उपलब्धि है ।

सभी श्रुतिओ सद्ग्रन्थ यही कहते है कि जो ब्रह्म (आत्मा) हमें धारण कर रहा है, हमारा भी यही कर्त्तव्य है कि स्वयं को उसी आत्मा में व्याप्त कर दे ।

सत्य आत्मा का संग करना, उसी में व्याप्त हो जाना ही सत्संग है । सत्संग गंगा के रस का पान तिन तरह से भक्त करते है, उन्हें इस उदाहरण से समझे, जैसे किसी पात्र में जल भरा हो, हम (उसे) आत्मा सत्संग गंगा का अमृत समझें , और प्रथम उसमेँ एक पत्थर की मुर्ति डाले और निकालेंगे तो हम पायेंगे कि पथ्थर पर बहुत कुछ हल्का जल का असर हुआ है, परन्तु हम लगते ही जल का असर खत्म हो जायेगा । पत्थर जैसे पहले था वैसे ही हो जायेगा । उस पर अमृत जल का कोई असर नहीं रहेगा । अब हम अमृत जल में कपड़े की गुड़िया डालें तो हम पायेंगे कि कपड़े की गुडिया पूरी तरह भीग गई है , और बाहर निकालने पर भी बहुत देर तक भीगी रहेगी , इतना होने पर भी हम देखेंगे कि पूरी तरह से योग, अद्धैत नहीं हुआ है , क्योंकि सांसारिक विषयों की हवा लगते ही कपड़े की गुड़िया पर से भी अमृत जल का प्रभाव खत्म होने लगता है , और कुछ क्षण पश्चात वह भी अपने पुराने रूप में आ जाती है । अब अगर हम उसी अमृत जल में चीनी का पुतला डालें तो हम देखेंगे कि चीनी का पुतला अपना रूप खोकर पूरी तरह जल में घुल - मिल गया है , यही योग एवं अद्वैत की अवस्था हैं । स्वयं को पूर्ण रूप से ब्रह्म (आत्मा) में ही व्याप्त कर देना ही योग है ।

【 48 】 अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः । १.२.१७ ।।

अन = अन्यत्र ।

वस्थिते = स्थित है , ऐसा ।

असम्भवः = असम्भव है । (वह आत्मा में ही हैं)

च = तथा

नेतरः = (न + इतरः) नहीं अन्यत्र कहीं भी ।

कस्तूरी कुण्डली वसै , मृग दूढ़े वन माहिं अन्यत्र कहीं वह ब्रह्म स्थित है मुझसे हटकर , ऐसा कदापि नहीं हैं । वह यहाँ वहीं नहीं हम सब के भीतर है । वेद की ऋचाओं में भी ब्रह्म (आत्मा) को घट - घट वासी माना है , वेद की ऋचा है ।

【 49 】 अंतर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्

।। १.२.१८ ।।

अन्तः, याम्यः, अधिदैव, आदिशु, तत्, धर्म, व्यपदेशात्

अन्तः (भीतर) शरीरमें व्याप्त है, आदि-देवता आदि सभी । ऐसा ही सर्वदा सर्वत्र सभी वेदों, पुराणादिक, श्रुतिओं में उपदेशित हुआ है । आत्मा में अपने भीतर आकर दृढ़ स्थित हो जाओ। समस्त देवता ? तीर्थ-आदि हमारे भीतर है । सभी ग्रन्थ आदि में यही उपदेशित हुआ है । सम्पूर्ण सचराचर सूक्ष्म होकर हमारे भीतर समाया है ।

【 50 】 न च स्मार्त्तमतद्धर्ममिलापात् ।। १.२.१९ ।।

न = नहीं

स्मार्त = स्मृतिओं के पुजारी, सनातन धर्म के अनुयायी

मतम् = मत के अनुसार

धर्ममिलापात् = धर्मानुसारलम्भि भी ईश्वर का देह से बाहर भाव रखते हैं

।

वे सम्भवत: ईश्वर को घट घट वासी, सचराचर में व्याप्त मानते है ऐसा ही मानते है । स्मार्त धर्म (स्मृतिओं को मानने वाले) ऐसी कोई अभिलाषा या कामना नहीं करते है कि ईश्वर हमसे अलग अन्यत्र है ।

【 *51* 】 शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते

।। १.२.२० ।।

शारीर: = शरीर में तथा शरीर संबंधी । च = तथा ।

उभये = दोनों रूपों में ।

अपि = भी ।

हि = ईश्वर व्याप्त है (जीवात्मा तथा आत्मा के रूप में)

भेद: = ऐसा भेद ।

न = नहीं किया गया है ।

ऐनम = ऐसा ।

अधीयते = अध्ययन नहीं किया है

अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म की मानसी उत्पत्ति तथा आत्मा ही परमेश्वर का लीलावतार , सर्वव्यापी , सचराचर को उत्पन्न एवं धारण करने वाला है । यह शरीर रूपी घर भी आत्मा द्वारा निर्मित एवं रक्षित , संचालित होता है , जीवात्मा के हित में । शरीर को अपनी पहचान मानना असत्य

है । जीव रूप से हम सब इस शरीर से अलग हैं तथा जीवात्मा ही हमारा रूप है

जीवन एक समीकरण है ।

आत्मा (परमात्मा) जीव - शरीर । आत्मा जो परमात्मा का लीलारूप है । शरीर एक प्रतिक्रिया है उस सष्टियज्ञ की जहा से जीवन की उत्पत्ति है । स्रुष्टि यज्ञ हम सब में प्रज्वलित है ।

【 52 】 अदृश्यत्वागुणको धर्माक्तेः ।। १.२.२१ ।।

अदृश्यत्व = अदृश्य है, तत्त्व में समाया हुआ ।

आदि = इत्यादि ।

गुणको = गुण के द्वारा ही सुभाषित होता है ।

धर्माक्ते = उक्त उपदेश धर्मग्रन्थों, ज्ञानियों मे सदा कहा गया है ।

आत्मा ही घट घट वासी परमात्मा (परम् + आत्मा) का लीलावतार है । परमात्मा ही अदृश्य आत्मा होकर हम सब में समाया हुआ है ।

【 53 】 विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरो ।। १.२.२२ ।।

विशेषण, व्याख्या, प्रस्तुति, उपमा आदि के भेद सदृश्य उपदेशों में आयी व्याख्याओं को भी तथा उपरोक्त आत्मतत्व के ज्ञान को अन्यभाव से नहीं लेना चाहिए ।

आत्मा को तत्त्व से घट घट वासी रूप में जानना ही उचित है । उपमाओं, व्याख्याओं को भेद जानकर कि परमेश्वर मुझसे कही और है

ऐसा सोचना गलत है । "यत् पिण्ड़े तत् ब्रह्माण्ड़े" सम्पुर्ण सचराचर सूक्ष्म होकर सब में समाया है ।

【 54 】 रूपोपन्यासाच्च ।। १.२.२३ ।।

रूपः- अर्थात् देह में ।

उपः- व्याप्त ।

चः- तथा

न्यासः- न्यासी भाव ही आत्मा अथवा ईश्वर का भाव है । ईश्वर की कल्पना आत्मा के रूप में हुई है । जीवात्मा निमित्त सेवक तथा शरीर , जीवन एक न्यास की भांति है ।

यह शरीर आत्मा की धरोहर है , हम सब तो निमित्त मात्र है । आत्मा के प्रकाश से ही शरीर में चैतन्यता बनी रहती है । चेहरे की सुन्दरता अपने में कोई सौन्दर्य नहीं है , क्योंकि आत्मा के बिना सुन्दर चेहरा भी शव (मुर्दा) है । रूप (शरीर) में व्याप्त जो आत्म - ज्योति है , उसी का ये शरीर (न्यास) धरोहर है । इस तत्व को न जानकर शरीर को ही अपना यह मेरा है . ऐसा मानते हैं , वह अज्ञानी हैं । सनातन धर्म तत्व दर्शन का धर्म है , जो तत्व को जान पायेगा उसी का उद्धार होगा ।

हम अपने ही अन्तर्जगत से अपरिचित हैं । दुनिया (बाह्य संसार) को जान लेना आसान है परन्तु स्वयं को जानना अति दुर्लभ है । वेद, ब्रह्म-सूत्र सदग्रंथ हमारे अन्तर्चक्षु खोलते हैं । तभी हम जान पाते हैं कि हमारा अन्तर्जगत अति सुन्दर व ज्योतिर्मय है ।

जिसने स्वयं को नहीं जाना उसका बाहर का ज्ञान व्यर्थ है । एक ही वस्तु हर व्यक्ति भिन्न देखता है, और सभी मानते है वह सही देख रहे

है ।

ईश्वर को तत्व से ही जाना जा सकता है ।

【 55 】 वैश्वानरः साधारणशब्द विशेषात्

।। १.२.२४ ।।

वैश्वानरः- विश्व व्यापी है ईश्वर की प्रतिष्ठा । साधारण रूप से विशेषण में ग्रहण किया गया है । ईश्वर किसी स्थान विशेष (सप्त लोकादि) में बंधक अथवा सीमित नहीं हैं , तथा न ही किया जा सकता है ।

सर्वव्यापी , सर्व शक्तिमान , घट - घट वासी एवं सम्पूर्ण सचराचर , पाँचों तत्वादि उसका स्वरूप है ।

वैश्वानरः - शब्द का अर्थ है , मृत्यु से हीन अमर अवस्था का होना ही वैश्वानर है । भले ही यह शब्द सुनने में साधारण लगे , परन्तु वैश्वानर आत्मा के लिए ही है । इसे साधारण अग्नि या जठराग्नि मात्र ही नहीं , समझना चाहिए ।

वैश्वानर एक अमर अवस्था है जिसे प्राप्त करना होता है , तप साधना के द्वारा । जैसे डाक्टर (चिकित्सा) की उपाधि मिलने के बाद ही व्यक्ति चिकित्सक कहलाता है , उसी प्रकार वैश्वानर अवस्था को भी प्राप्त करना होता है ।

भक्ति का आधार ईश्वर में दृढ़ विश्वास है । जरा सी भी विषम या विपरीत परिस्थिति आने पर हम घबड़ा कर झूठ , फरेब कपट आदि का सहारा लेने लगते हैं । ईश्वर हमारे ऊपर किसी भी प्रकार का बाहरी नियन्त्रण नहीं रखते हैं , इसीलिए उन्होंने हमें बुद्धि की स्वतंत्रता दी है ।

धर्म का सही ज्ञान आत्मा की सत्ता में पूर्ण विश्वास से ही आता है ।

【 56 】 स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।। १.२.२५ ।।

स्मर्यमाणम् अनुमानम् स्यात् इति

स्मृति में ग्रहण किए, स्वीकृत, अनुमानित ऐसे ब्रह्म की कल्पना ही वैश्वानर आदि ईश्वर के पर्याय है । ईश्वर घट घट वासी है मुझमें एवं सबमे व्याप्त आत्मा ही वैश्वानर की उपाधि है

सम्पुर्ण स्मृतियों का जो अनुमान है, उसमें भी ईश्वर घट घट वासी है, वही वैश्वानर है । मानव योनि ज्ञान की योनि है । ईश्वर की राह ही जीवन का लक्ष्य है तथा जिसमें विनम्रता नहीं वह कभी ईश्वर को पा नहीं सकता है । जो सत्य आत्मा का तिरस्कार कर के विद्वता के पाखण्ड में चला जाता है, उसका कभी कल्याण नहीं हो सकता है ।

【57】 शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथा दृष्टयुपदेशादसम्भवात्पुरूषमपि चैनमधीयते ।। १.२.२६ ।।

शब्द , आदि , भ्याः , अन्तः , प्रतिष्ठा , नः च , न , इति , च , एनः , दृष्ट , उपदेशात , असम्भवात् पुरूषम , अपि , च , ऐनम , अधीयते ।

शब्द अर्थात् स्मृति वेदादिक उक्तियों के द्वारा भी वैश्वानर आत्मा को ही कहा गया है । इसे जठराग्नि , अथवा किसी साधारण अग्नि के रूप में उपदेशित करना उचित नहीं है । ब्रह्म - सूत्र वेद के सूत्रधार हैं । जितने शब्द (सद् ग्रंथो के वचन) आख्यिकाएँ जो भी हैं , वह आत्मा में ही प्रतिष्ठित होने को कहती हैं । जो भी उपदेश हैं , वह आत्मा

(वैश्वानर) को उसी भाव में ग्रहण करते हैं । वैश्वानर अग्नि आत्मा (आत्मा - ज्वाला) है । यह अग्नि अगर भस्म करती है , तो यह नूतन सृष्टि भी करने में समर्थ है । वेदों में जिस यज्ञ का वर्णन है वह मूलतः आत्म - यज्ञ से ही है । यह यज्ञ ईश्वर का बनाया हुआ है , तथा इसी से सचराचर उत्पन्न हो रहा है , इसे इसी भाव में ग्रहण करना चाहिए । जिस प्रकार गर्भ में आत्म - यज्ञों के द्वारा बालक (जीव के शरीर) का निर्माण होता है , उसी प्रकार आकाश में हिरण्यगर्भ में ग्रहों , नक्षत्रों का रूप बनता है । वेदों के अनुसार आत्मा रूपी अवनि (अग्नि) पर ही हमारा अन्तिम संस्कार हो ।

【 58 】 अत एव न देवता भूतं च ।। १.२.२७ ।।

अत एवः- अतः (वैश्वानर शब्द से) न देवता अथवा भूत प्राणी आदि आकाश आदि का भाव लेना चाहिए ।

वैश्वानरः- विगत श्वा- मृत्यु से रहित , अमर , मृत्युञ्जय आत्मा का ज्ञान है

पूर्व सूत्रों में वैश्वानर की चर्चा करते आ रहे हैं । वैश्वानर आत्मा का ही पर्यायवाची है । इसे कोई देवता , भूत प्राणी , जीव या कोई साधारण अग्नि अथवा जठराग्नि नहीं समझ लेना चाहिए । साधारण अग्नि जो आवागमन अर्थात् जन्म - मृत्यु जैसे प्रज्वलित होकर फिर समाप्त हो जाना इस प्रकार की साधारण अग्नि वैश्वानर नहीं हो सकती है ।

वैश्वानर " वसु " आत्मा को ही कहते हैं । " वसु " को स्पष्ट करने के लिए हम महाभारत का दृष्टान्त लेते हैं । महाभारत का महासमर आरम्भ है । दो अद्भुत महारथी आमने सामने हैं । दोनों ही अपनी माता के आठवें संतान हैं । विचित्र समता है , दोनों में , एक ने कहा है कि

वह अस्त्र नहीं उठायेगा, केवल रथ चलाया था। दूसरे ने कहा कि अस्त्र उठवा ही दूंगा, अस्त्र उटाना ही पड़ेगा।

एक है महाप्रतापी भीष्म, जिसका पूर्व नाम देवव्रत है, पूर्व जन्म के आठवे वसु प्रभास हैं। दूसरे हैं वसुदेव व देवकी के आठवें पुत्र भगवान श्री कृष्ण। दोनों दिव्य एवं आलौकिक पुरूष हैं। ये दोनों पुरुष ऋग्वेद में भी ऋचायें बनकर आमने सामने खड़े रह जाते हैं। एक जो भीष्म है वह बाह्य यज्ञ का स्वरूप हैं। दूसरे है भगवान श्री कृष्ण जो कि आत्मस्थ यज्ञ है।

जब जीव की सप्त वासनात्मक अग्निया ज्ञान की गंगा में सो जाती है, तब इस आठवीं अग्नि अर्थात् आत्म ज्वाला का ज्ञान होता है उसके जीवन में प्रभास होता है अर्थात् वह स्वयं को जानने की दिशा में सोचने लगता है। अद्भुत दिव्य आत्मा का आभास ही तो प्रभास है जो कि आठवें वसु का नाम है। जब जीव ईश्वर की ओर झुकने लगता है तो देवव्रत होता है। आत्मस्थ हुआ मनुष्य हवन यज्ञ आदि की ओर झुकने लगता है। यह वाह्य यज्ञ ही तो आजन्म कुँवारा भीष्म है। यहीं से जीव देवव्रत होता है। यह यज्ञ ही उसे परमेश्वर का आभास देता है। उसके जीवन का प्रभास होता है परन्तु वाह्य यज्ञ कुँवारा भीष्म है शाकल्य के साथ वाह्य जगत की अतृप्तियों और वासनाओं को जलाकर मुठ और अकिंचन होने का हेतु है यह सिर्फ जलायेगा वाहर के विषयों, इच्छाओं को उपाधियों और भेदभाव को नष्ट करने वाला ही बाह्य यज्ञ है। पुष्ट आध्यात्मिक आस्था पूर्ण समर्पित भक्ति का स्वरूप वाह्य यज्ञ भीष्म है।

वाह्य जगत से मूढ़ और अकिंचन होकर जब जीव आत्म-ज्वालाओं में स्वयं को आत्मा रूपी अग्नियों में यज्ञ करता है तो वह आत्मा रूपी यज्ञ कुण्ड से ज्योतिर्मय जन्म धारण करता आत्मा श्री कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न होता है। "प्र" अर्थात् अजर अमर "धुम्न" अर्थात् कौंधती और तड़पती हुई विजली से स्वरूप में यज्ञ होकर कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न हो जाता है । सृष्टि यज्ञ, आत्म-ज्वालाओं में किस प्रकार यज्ञ होकर ईश्वर की राह में जीव का जन्म होता है, इसे वेद की ऋचाओं में

स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्या अपेशसे समुषद्भिरजायया: ।। ऋग्वेद १.६.३ ।।

केतुम = उपाधियों को

कृण्वन = नष्ट करके

अकेतवे = अर्थात् अकिंचन पेशो = भेद जगत का भेदभाव मर्य्यां = सीमा (मर्यादा) को तोड़कर

अपेशसे = अर्थात् मूढ़ हुए सूचक और अकिंचन ही

समुषदिभः = प्रातः काल के उगते सूर्य के समान

अजायया: = यदि जन्मना चाहता है।

अन्तर के जगत में, ईश्वर की राह में यदि तुझे जन्मना है, आत्मा की राह का यदि तुझे अनुसरण करना है तो पहले उपाधियों को नष्ट कर और अकिंचन हो भेद जगत की सीमाओं को तोड़ और मूढ़ हो जा। जब तक मूढ़ और अकिंचन नहीं होगा ईश्वर की राह में तेरा जन्म भी नहीं होगा आत्म यज्ञ कैसे करें? इसे इस ऋचा से जानो।

"आ दह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।

दधानां नाम यज्ञियम्" ।। ऋग्वेद ।। १.६.५ ।।

आ दह = आकर दहन हो, यज्ञ हो

स्वधामन् = आत्म रूपी धाम में

पुनर्गभत्वमेरिर = आत्मा के गर्भ से पुनः ज्योतिर्मय सूर्य बनकर प्रकट हो, उत्पन्न हो।

दयाना = घारण कर, अर्थात चरितार्थ कर

नान = नाम चरतार्थ कर

यज्ञियम् = यज्ञ के अर्थात् जब वाह्य जगत में मुठ और अकिंचन हो जाये, ईश्वर की राह में जन्मने का अधिकार तू पा जाये, तब अन्तर्मुखी हो आत्मा रूपी कृष्ण ज्वालाओं में स्वयं को यज्ञ कर दहन कर, सूर्य सा तेजस्वी बन उस गर्भ में ज्योतिर्मय सूर्य बनकर पुनर्जन्म को प्राप्त हो तथा यज्ञ के नाम को चरितार्थ कर ।

【 59 】 साक्षादप्य विरोधं जैमिनिः ।। १.२.२८ ।।

साक्षात रूप से भी व्याप्त दर्शन में भी,कोई विरोध वैश्वानर की व्याख्या से नहीं है । जैमिनी ऋषिने भी ऐसा माना है । सांख्य दर्शन भी इसे ही प्रतिपादित करते है ।

जेमन शब्द का अर्थ जिमने अर्थात भोजन ग्रहण करने से है । जैमिनी शब्द का अर्थ ब्रह्मज्वालाओं में यज्ञ होकर ज्योतियों में पुनर्जन्म पाता भोजन है । भोजन को पचाने के कारण ब्रह्म- ज्वालाओं को जठराग्नि भी कहा गया है, परन्तु वैश्वानर अमर आत्मा को ही कहते हैं।

यह पूर्व सूत्रों से जुड़ा सूत्र है कि क्या आत्म-अग्नि मात्र जठराग्नि है ? जठराग्नि पेट की भूख है, और वैश्वानर आत्मा ही ब्रह्म-ज्याला है यह जठराग्नि मात्र ही नहीं है ।

वेद के ऋषियों के नाम भाव प्रधान होते है माता-पिता प्रदत्त नाम नहीं होते हैं। जैसे ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा का अर्थ है, जो बिष से भी अमृत, निकाल ले, उसे मधुछन्दा कहते हैं।

उसी प्रकार मेघा तिथि का अर्थ है जो मेधा (बुद्धि) में अतिथि बनकर आया है। इनके माता पिता का नाम भी भाव प्रधान है। पिता कर्दम तथा माता देवहूति । कर्दम कहते हैं कीचड़ को। जब कीचड़ में देवत्व की आहूति (देवहुति) होती है तो जीवन अंकुरित होता है। कमल कीचड़ में होता है परन्तु कीचड़ से निर्लिप्त रहता है। ऋषि कर्दम तथा माता देवहूति लक्ष्मी जी के भी, माता-पिता हैं।

इसी प्रकार "वेद-व्यास"शब्द का भी अर्थ है कि जो वेदों (ज्ञान) की भी सीमा (व्यास) बांध दे वह वेद-व्यास है।

जैमिनिः शब्द जमन से (जीमना) से हुआ है। जैमिनिः का भावार्थ हुआ कि जो ब्रह्म-ज्वाला, आत्म-अग्नि द्वारा जीम लिया गया तथा पुनः ज्योतियों में प्रगट हो गया, वह जैमिनि है। यह हम सबमें आत्मा के रूप में है ।

【 60 】 अभीव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।। १.२.२९ ।।

अभीव्यक्तेः- अभिव्यक्त हुआ है जो, आश्मरथ आदि ऋषियों के द्वारा बारम्बार ।

आश्मः- पत्थर।

रथः- शरीर ।

आश्म रथः- एक ऋषि का नाम जिन्होने निर्गुण ब्रह्म की सगुण पूजा का विधान किया था तथा जो मूर्ति पूजा के जनक माने गए है । निर्गुण एवं सगुण में भेद नहीं है, सगुण राह है निर्गुण उसकी उपलब्धि है । उनका

ऐसा मत है ।

पूर्वोक्त सूत्रों में आत्मा को ही वैश्वानर कहा है । आश्मरथ ऋषि जिनको मूर्ति पूजा का जनक कहा गया है, जिन्होंने सर्वप्रथम ईश्वर को कण कण में विराजमान कहा । माण्डूक उपनिषद में इनकी विशेष चर्चा है । आश्मरथ ऋषि के अनुसार सगुण, द्वेत धर्म मार्ग है । ईश्वर तक पहुँचने के लिए भगवान कि मूर्ति नक्शे का काम करती है । सगुणोपासक आश्मरथ ऋषि ने भी आत्मा को ही वैश्वानर कहा है ।

तत्व को जानने वाले सगुण और निर्गुण के भेद को नहीं मानते है । जो सगुण ओर निर्गुण दोनो को जानने वाले है, सगुण उपासना के मार्ग से परिमार्जित होते हुए निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होते है ।

【 *61* 】 अनुस्मृतेर्बादरिः ।। १.२.३० ।।

अनुस्मृतेः- अनुसरण करती स्मृतियाँ सम्पूर्ण तथा बादरिः- (बादरायण) ऋषि भी। अनन्त निर्गुण, निराकार, परमेश्वर सगुण, साकार (घट-धट वासी) भी है। उसे आत्मस्थ भाव में ही पाया जा सकता है ।

स्मृतियों में भी यही भाव है कि भक्ति अन्तर्मुखी होकर ही की जाती है। बादरि ऋषि वेदव्यास ही हैं। बादरि का अर्थ बेर होता है बादरायण (वेद व्यास) ने भी अपनी सम्पूर्ण स्मृतियों में आत्मा को ही यज्ञ माना है। जो भीतर से इस सृष्टि यज्ञ के तत्व को नहीं जानते हैं वह मात्र भौतिक कृत्य ही करते हैं।

आश्मरथ ऋषि का भी यही भाव है कि मूर्तिपूजा द्वारा स्वयं को जानो इस शरीर में व्याप्त मूर्तिमान आत्मा को पहचानो।

जो स्वयं से कट गया, जिसने कभी अन्तर के सत्य को नहीं जाना, उसने कभी सत्य को भी नहीं जाना है ।

【 62 】 "सम्पत्तेरिति जैमिनीस्तथा हि दर्शयति"

।। १.२.३१ ।।

समानभाव से इस भान्ति जैमिनी ऋषि ने तथा अन्य दर्शन शास्त्रों में भी आत्मा को ह्रदय मे व्याप्त दर्शन की बात सर्वत्र कही गयी है । आत्मा ही

ईश्वर वैश्वानर तथा सचराचर का जनक है तथा उसका आत्मस्थ भाव में ही दर्शन पाया जा सकता है।

वह ईश्वर आत्मा के रूप में समान भाव से घट-घट वासी है। इस भान्ति जैमिनि ऋषि तथा सम्पूर्ण दर्शनों में हृदय -शरीर में ही आत्म - यज्ञ की कल्पना की है।

हमारा अस्तित्व आत्मा से है वही हमारा मूल कारण है गुलामी की लम्बी दासता के कारण वेद का ज्ञान प्रायः लुप्त सा हो गया है, इसी कारण हम अपने मूल उद्गम, जड़ो को पहचान नहीं पा रहें है। जो संस्कृति, जाति अथवा मनुष्य की सोच अपनी जड़ों से कट जाती है वह अन्ततः विनाश को प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार कितना ही विशाल वृक्ष हो, अगर वह अपनी जड़ों की अवहेलना करेगा, दंभ अंहकार या अज्ञान से अपनी जड़ों से अलग हट कर जीने की कोशिश करेगा तो उसका महा विनाश हो जायेगा यह प्रकृति का शाश्वत नियम है ।

वेदों स्मृतियों आदि में जिस आत्म-यज्ञ, सृष्टि यज्ञ की बात की गयी है वह अपने में अनूठी है, क्योंकि ऐसी कल्पना अन्य विदेशी धर्मों में या संस्कृतियों अथवा विज्ञान में भी नहीं हैं। इसलिए हम भी (आत्म -यज्ञ) (सृष्टि यज्ञ) को पूर्ण रूप से आत्म-सात नहीं कर पाते है जबकि इसी सृष्टि यज्ञ के कारण निरन्तर उत्पत्ति हो रही है जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

ईश्वर को पतित पावन भी इसलिए कहा गया है क्योंकि ईश्वर ही समस्त समाज तथा जीव धारियों द्वारा त्याज्य जो मल है, उसे आत्म-यज्ञों में ग्रहण करके, उस त्याज्च पतित मल को, दुर्गन्ध को, पुनः पावन बनस्पतियों फल, फूल सुगन्ध में लौटाने की शक्ति केवल ईश्वर में ही है, इसीलिए ईश्वर पतित पावन हैं।

【 63 】 "आमनन्ति चैनमस्मिन्" ।। १.२.३२ ।।

आमनन्ति = आरंभ से अंत तक सभी वेदों, स्मृतिओं ऋषियों ने ।

च = तथा

एनम् = इसको, इस भान्ति ही

अस्मिन = इस प्रकार सिद्ध किया है ।

आत्मा घट घट वासी वैश्वानर है तथा उसे आत्मस्थ होकर ही पाया जाता है ।

यह दूसरे अध्याय (दूसरे पाद) का समापन सत्र है जैसा कि पूर्व सूत्र में कहा गया है कि आत्मा ही यज्ञ है, वैश्वानर है तथा ईश्वर को पाने के लिए आत्मा के अनुशासन में आना होता है, आरम्भ आदि से अंत तक हर सांस प्रतिक्षण आत्मा से जुड़कर जिना चाहिये, वाह्य संसार सेवा का क्षेत्र है । निष्काम भाव से सचराचर जीवमात्र की सेवा करें परंतु ईश्वर से मिलन तो मात्र अन्तरात्मा मे अपने भीतर ही होता है ।

इति श्री ब्रह्मसूत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय दृतिय पाद

"गोविंद हरि" "हरि ॐ नारायण हरि" "नारायण हरि"

परम् पुज्य वेदमूर्ति गुरुदेव स्वामी सनातन श्री महाराज का दिव्य सद्ग्रन्थ

"हरि ॐ नारायण हरि"

"ब्रह्मसूत्र"

(श्री सनातन भाष्य)

प्रथमाध्याये - तृतीय पादः

【 64 】 "द्युभ्वाद्यायतनम् स्वशब्दात्" ।। १.३.१ ।।

द्यु = स्वर्गलोक

भ्वाद्यायतनम् = पृथ्वी , भूलोक , मृत्युलोक का आधार

स्व = आत्मा

शब्दात् = सूचक , बोधशब्द

आत्मा ही त्रैलोकेश्वर सचराचर का नियंता है । उसे अंतःमुखी होकर योग के द्वारा ही पाया जा सकता है । स्वर्ग और वैकुण्ठ की

कल्पना भी आत्मा से ही है । स्वर्ग = स्व + आत्मा = स्व – "आत्मा" में ; अर्ग "सीमा" सिमित होना ही स्वर्ग है इसी प्रकार वैकुण्ठ शब्द का संधि विच्छेद करने पर वै + कुण्ठा = विगत , त्यक्त कुण्ठ , कुण्ठाओं से , जो समस्त कुण्ठाओं से जो परे हो गया वही वैकुण्ठ पाता है

जैसा कि पूर्व सूत्रों में बताया गया है वैश्वानर कोई साधारण अग्नि नहीं है तीनो लोको में व्याप्त ऐसा वैश्वानर आत्मा ही है । वहीं उत्पत्ति का यज्ञ है ब्रह्मजवाला जो समस्त जीव आदी के देहों में व्याप्त है वहीं सृष्टि करती है

अध्यात्म एक महाविज्ञान है एक पाठशाला की भांति । वाह्य पूजा कर्मकाण्ड यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म है जीवनरूपी पाठशाला की प्राइमरी कक्षाऐं । हमें अध्यात्म की उच्च कक्षा में भी प्रवेश करना है । सारी उम्र प्राइमरी की एक ही कक्षा में बिता देना कोई समझदारी नहीं है ।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का सत्य स्वयं ही खोजना होता है। धर्म व्यक्ति को बुद्धि की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है। धर्म की राह पर ग्रंथो में लिखी हुई बातों को तभी आत्मसात करें, जब हमारा अन्तर्मन उसे स्वीकार करे, तभी उसे सत्य मानना चाहिए।

साधना भक्ति ब्रह्म रन्द्र (पीनियल बॉडी) में प्रवेश करके ही होती ! क्योंकि सम्पूर्ण मन एवं शरीर पर नियन्त्रण ब्रह्मरन्द्र से ही होता है। देहबल मनोबल तथा आत्म-बल यह तीन बल हम सब के भीतर सदैव है देहबल पर नियन्त्रण (संकल्प शक्ति) को जाग्रत करने से होता है तथा उसके बाद ही ब्रहारन्द्र में प्रवेश करना संभव होता है। ब्रह्मरंध्र में ही जीव का आत्मा से मिलन है तथा जीव आत्मा से तदरुपता प्राप्त करता है. इसी को अद्वेत कहते है।

आत्मा घट घट वासी वैश्वानर है तथा उसे आत्मस्थ होकर ही पाया जाता है ।

【 65 】 "मुक्तोप्रसूप्य-व्यपदेशात्" ।। १.३.२ ।।

मुक्ति (मोक्ष) तथा उत्पत्ति सम्भव है जिसमे व्याप्त होकर वह आत्मा ही है " स्व " शब्द में जीवात्मा का बोध करना नितान्त भ्रम है । " स्व " आत्मबोधक शब्द है ।

व्यक्ति पूजा सर्वथा अनुचित है । सनातन धर्म की आस्था आत्म - पूजा अर्थात् देवपूजा में ही है । इसमें शरीर में व्याप्त अमर आत्मा ही पूज्य है ।

मोक्ष (मुक्ति) मृत्यु और उत्पत्ति के रहस्य जिसके पास हैं वहीं "आत्मा" है । आत्मा ही जगत का उत्पत्तिदाता है इसी सत्य को अंतिम रूप से स्वीकारना चाहिए ।

हर देह में प्रज्वलित ब्रह्म अग्नि ही स्व - यज्ञ (आत्म यज्ञ) है तथा इसी आत्म - यज्ञ में जो स्वयं का सम्पूर्णता के साथ सामग्री की तरह यज्ञ कर देता है वहीं सृष्टि के रहस्यों के ज्ञान को पाता है और अमर हो जाता है मृत्यु का देवता उससें दूर चला जाता है । आत्मा में ही व्याप्त होकर मुक्ति (मोक्ष) तथा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है ।

जीव की पहचान आत्मा से ही है अगर आत्मा नहीं है तो जीवात्मा के पास शरीर भी नहीं है और भौतिक जगत में शरीर के बिना कोई पहचान नहीं होती । वाह्य स्वरूप निरंतर परिवर्तनिय है यह प्रतिक्षण बदलता रहता है आत्मा ही सत्य है , इसे हमें अंतिम रूप से स्वीकारना चाहिए ।

भगवद्गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने कहा है "स्वधर्म मरणं श्रेयः"

यहा स्व-धर्म का अर्थ आत्मा से है तथा परधर्म आत्मा से इंद्रियों में आसक्त भौतिक विषय को कहा गया है । भगवद्गीता का भाव यह है कि इंद्रियों में आसक्त होकर भौतिक विषय जगत के लिए जीने से "स्व-धर्म" अर्थात आत्मा में स्थित होकर मरना ।

【 66 】 "नानूमानमतच्छब्दात्" ।। १.३.३ ।।

नहीं अनुमान अथवा मत सही है कि "स्व" का अर्थ पृथ्वी भौतिक जगत आदि है । अमर आत्मा को ही "स्व" शब्द से संबोधित किया गया है आत्मा शब्द का अर्थ भी जो देह में नित्य व्याप्त आप्त भाव से सृष्टि करता है, स्वयं को भुलाकर ।

ईश्वर आत्मा है । इसे कोरा अनुमान नहीं समझना चाहिए तथा ईश्वर को आसमानो में भी नहीं खोजना चाहिए । ईश्वर आत्मा होकर प्रत्येक शरीर (घट) में विराज रहा है, उसे अपने भीतर ही खोजना चाहिए ।

बाहर बैठकर मात्र अनुमान लगाने से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा । वाह्य भौतिक जगत में सत्य नहीं मिलता, सत्य हमारे भीतर है, मनुष्य की योनि अत्यंत दुर्लभ है, ईश्वर प्रदत्त बुद्धि और विवेक का हमे अनादर नहीं करना चाहिए ।

हमें विचार करना चाहिए कि हमारे जीवन का उदेश्य क्या है - कहा गया है कि "मन संशय रहित हुआ किसका ? आत्मा को संशय हुआ कब" अगर हमें अपने दुखों और कष्टों का निवारण करना है तो उसका एक ही उपाय है मन को आत्मसंगी बनाओं ।

【 67 】 "प्राणभृच्च" ।। १.३.४ ।।

प्राणों को धारण करने वाला तथा प्रगट करने वाला आत्मा "स्व" सम्बोधन से जाना जाता है । यह कहना कि प्राण "स्व" अर्थात आत्मा है ऐसा सत्य नहीं है । प्राण अथवा प्राण-वायु, आत्मयज्ञ का उपाचार्य,

आत्म निम्मित ही है ।

प्राणों को भी धारण करनेवाला जो आत्मा है वहीं “स्व” शब्द से संबोधित होता है प्राण को आत्मा का पर्यायवाची मानना सत्य नहीं है ।

【 68】 “भेदव्यपदेशात्” ।। १.३.५ ।।

प्राण प्राणवायु जीवात्मा के भेद व्यवहार को समझना चाहिए । जीवन का मूल आत्मा “स्व” ही है । वहीं इन सबका जनक है ।

भेद को भी जानना चाहिए । शरीर प्राण हम नहीं है, मात्र आत्मा ही सत्य है वहीं मूल जीवन है वाह्य जगत निम्मित मात्र ही है ।

आत्मा से ही सचराचर सम्भव है आत्मा में परम विशेषण लगाने से वह परमात्मा बन जाता है । अगर वाह्य जगत सत्य होता तो हमें जीवन के रहस्यों का पूर्ण ज्ञान होता । मिट्टी को अन्न में बदलना यह कार्य हम स्वयं कर पाते परन्तु ऐसा संभव नहीं है । उत्पत्ति का क्षण अंतर जगत आत्मा में ही है । पेड़ो के गर्भ में ही मिट्टी अन्न का रूप पाती है ।

हम ईश्वर को क्यो नहीं पाते है, क्योकि हम स्वयं को ही नहीं जानते हम कौन है? क्यो है? कैसे है? स्वयं को जानना अति दुर्लभ है । मन के बहिर्मुख होने के कारण यह असानी से आत्मा के साथ नहीं जुड पाता है, जिसके कारण हम वाह्य भौतिक जगत में ही भटकटे रहते है ।

【 69 】 “प्रकरणात्” ।। १.३.६ ।।

श्रुति, स्मृतियों तथा सचराचर (प्रकृति) के नियमन आदि प्रकरण से भी आत्मा को ही ईश्वर उत्पत्ति दाता तथा यज्ञ कहा है ।

प्राण जीवन नहीं है इस बात को भी सभी प्रकरणों में पाया गया है ।

【 70 】 "स्थित्यदनाभ्यां च" ।। १.३.७ ।।

स्थिति आदि के भेद से भी आत्मा ही सृष्टि का मूल है । जैसा कि मुण्डकोपनिषद श्वेताश्वेत्तरोपनिषद तथा अन्य ग्रंथो में कहा गया है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय समान वृक्षे परिपष्वजाते ।

तयोरन्याः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योरनष्नन् अभिचाकशीति ।।

दो सुंदर पंखों वाले पक्षी एक वृक्ष पर दृष्टिगोचर हो रहे है । उसमें से एक पेड़ के फलों को खा रहा है तथा दुसरा कुछ न लेता हुआ शोभायमान हो रहा है ।

शरीर रूपी वृक्ष पर जीवात्मा और आत्मा दोनो रहते है । एक भोगादिकों में लिप्त तथा दूसरा अनाशक्त रहता स्त्रुष्टि करता है ।

उपनिषद का अर्थ उप-समीप, निषद-बैठना वेदरूपि ज्ञानगंगा के समीप बैठकर जिस ऋषि ने जितना भाव ग्रहन किया उसे हम उपनिषद कहते है । लीलाकाव्य आदि भी वेद से भिन्न नहीं है ।

एक ही आत्मा सम्पुर्ण सचराचर को सृष्टि यज्ञ के द्वारा निरंतर उत्पन्न कर रहा है । इसलिए ईश्वर की कल्पना प्रकृति से हटकर नहीं हो सकती है । जहा जहा भी जीवन उत्पत्ति के यज्ञ निरंतर हो रहे है वहीं ईश्वर का रुप है । एक ही आत्मा प्रकृति से संयुक्त होकर हम सबको एक समान ही उत्पन्न कर रहा है । बिना किसी भेद भाव के । ईश्वर को अभेद होकर ही पाया जा सकता है । वेदों में सृष्टि यज्ञ का वर्णन है उसी को महाभारत महाकाव्य में लिलात्मक रूप से विस्तार से बताया गया है । महामुनि कश्यप की पत्नी कद्रू जो सर्पों, नागो की माता है उसका वर्णन वेद महाभारत तथा पुराण आदि ग्रंथों है कि सर्व प्रथम वायु धरती तथा जल में विचरण करने वाले किट, पतंगो तथा

विशालकाय जीवो की सृष्टि उन्हीं के द्वारा हुई ।

भगवद्गीता में भी सृष्टि यज्ञ का वर्णन तीसरे अध्याय के चौरहवे श्लोक में है ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि परजन्यादन्न सम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्म समुद्रवः ।।

सम्पुर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते है और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि (जल) से होती है यह वृष्टि (जल) की उत्पत्ति यज्ञ से होती है । अब प्रश्न उठता है यज्ञ कोनसा है जिससे जल और जीवन उत्पन्न होते है । क्योकि वाह्य यज्ञ तो जो हम करते है वह तो नैमित्तिक है उससे कुछ उत्पन्न नहीं होता है । सृष्टि यज्ञ एक रहस्य है जिशे आधुनिक विज्ञान भी आज तक नहीं जान पाया है ।

वेदों में इसका वर्णन है कि आकाश गंगा के मध्य एक महाशून्य प्रगट होता है जिसका स्वरूप गर्भनाल की भांति होता है, आधुनिक विज्ञान में इसे ब्लेक होल कहते है तथा वेद आदि ग्रंथों में इसे ही हिरण्यगर्भ कहा है । यही जीवन और जल की उत्पत्ति का मूल है । जिस प्रकार शरीर में गर्भनाल से होकर ही अन्न गर्भ में शिशु का रूप पाके एक नई सृष्टि की रचना करता है , यही प्रक्रिया अंतरिक्ष में स्थित हिरण्यगर्भ (ब्लैकहोल) में होती है , जहाँ नाना ग्रह , उल्का पिण्ड आदि इसी गर्भनाल में खिंच जाते है । कई गुणा प्रकाश गति से भी तीव्र गति से जहाँ उनका सम्पूर्णता से अणु से भी सूक्ष्म बिन्दुओं में विखण्डन हो जाता है और इसी हिरण्यगर्भ के दूसरे छोर से वह बिन्दु रूप में प्रकट होकर पुनः आपस में जुड़कर एक नई सृष्टि (ग्रह , नक्षत्र) आदि की रचना करते है ।

प्रकृति के नियम अकाट्य है । एक ही नियम सम्पूर्ण सचराचर , ग्रहो , नक्षत्रों , ब्रह्माण्डों तथा समस्त जीवों पर एक समान ही लागू होता है ।

【 71 】 "भूमा सम्प्रसादादद्युपदेशात्" ।। १.३.८ ।।

भूमा = अनन्त, नित्य, आत्मा, अजन्मा

सम्पसादात् = समभाव से देह में व्यात

अध्य = ऐसे आत्मा का ही

उपदेशात् = सृष्टा के रूप में उपदेश सर्वत्र हुआ है ।

आत्मा ही ईश्वर है जो सभी प्रकार का बल, बुद्धि , सामर्थ्य , शक्ति , संतत्ति से वरद होने के निम्मित सत्ता जीवात्मा को प्रदान करता है ।

भूमा शब्द का संधि विच्छेद करने पर "भु" - उत्पत्ति तथा "मा" - नहीं अर्थात जो अजन्मा है ऐसा ब्रह्म आत्मा ही सृुष्टि कर्ता है । जीव को आयु शक्ति सभी प्रकार का बल देता है ।

हर जीव का सृष्टा आत्मा होकर उसके साथ है । हमारा मोक्षदाता आत्मा हमारे साथ है यही सनातन धर्म का मूल भाव है । धर्म हमें ईश्वर आत्मा से अलग नहीं करता है ।

जीवन एक यात्रा है । नित्य नई भोर के समान जीवन बार-बार लौट आता है । धर्म जीवन की उत्पत्ति, सृष्टि के क्षण के साथ जुड़ा हुआ विज्ञान है । धर्म अपने मूल स्वरूप में अतिशय निर्मल किसी भी प्रकार के भेद भाव से रहीत होता है ।

यह प्राणीमात्र में "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" का भाव रखता है । जैसे गंगा नदी अपने उदगम स्थान हिमालय में अतिशय निर्मल एवं पवित्र होती है । परंतु जैसे जैसे यह सागर की और बढ़ती है, इसमे अनेक नदियाँ मिट्टी नाले आदि मिलकर इसके जल को दूषित कर देते है । परंतु सागर तक वह पवित्र गंगा ही कहलाती है । इसी प्रकार सामाजिक मान्यताएं रस्म-रिवाज मठ एवं सम्प्रदायों की अपनी सोच एवं

नियम आदि सभी धर्म मे मिल जाते है । जिससे धर्म का मूल स्वरूप बदल जाता है ।

धर्म की मूल ज्ञान गंगा जो वेदों में प्रवाहित होती है उसमें वाह्य भौतिक जगत की कोई भी औपचारिकता की चर्चा नहीं हैं, वहाँ सिर्फ सत्य अन्तर्जगत की ही बात कही गई है।

वेदों में वर्णन है कि इस धरती पर सृष्टि- यज्ञ द्वारा सर्वप्रथम निर्मित शरीर जो कि विशालकाय सरीसृपों (डायनासोर) थे उन्हें पृथ्वी माया (गुरुत्वाकर्षण) ने नष्ट कर दिया क्योंकि उन विशालकाय जीवों के भीतर आत्म-यज्ञ (सृष्टि-यज्ञ) की व्यवस्था नहीं थी जिसके कारण उनमें प्रजनन शक्ति का अभाव था, इसी कारण यह प्रजाति विलुप्त हो गई आगे जितने भी जीव, प्राणि धरती पर उतारे गये, प्रत्येक योनि के शरीर के भीतर ही आत्म-यज्ञ स्थापित किया गया ताकि प्रत्येक शरीर स्वयं ही नए शरीर को उत्पन्न कर सके, इस प्रकार आत्म-यज्ञ के द्वारा ही धरती पर जीवन स्थापित हो सका ।

【 72 】 "घर्मोपपत्तेश्च" ।। १.३.९ ।।

घर्मा:- धर्म की राह, धर्म का भाव, व्याख्या

उप- आत्मा में व्याप्त होना, उसका वरण अनुसरण तथा अनुपालन करना

आत्मस्थ निमित्त भाव ही मूल धर्म है वाह्य समाज, जगत सचगचर में आत्मा को ही धर्म मानकर आत्मन्थ भाव में जीना ही धर्म की सही व्याख्या है।

धर्म में व्याप्त जो उत्पत्ति का क्षण जो सृष्टि यज्ञ है वही आत्मा है। जीव अपने में कोई सत्ता नहीं है। धर्म का मूल उद्देश्य है स्वयं को जानना तथा आत्मा से जुड़कर जीना । वाह्य औपचारिकताओं से धर्म

का कोई सबंध नहीं है। धर्म व्यक्तिगत होता है। जात-पात, भेदभाव, छुआछूत धर्म ने नहीं दिए है। समय के साथ समाज की व्यवस्था बनाने के लिए धर्माचार्यो , सम्प्रदायों आदि ने भेद भाव की व्यवस्था कर दी जिसका विशुद्ध, मूल धर्म से कुछ भी लेना नहीं है।

धर्म तो आत्मा की बात करता है तथा उत्पत्ति के क्षण, सृष्टि का ज्ञान देता है उसका सूक्ष्म दर्शन है।

A Universal application of Truth is Dharma.

जिसने स्वयं को नहीं जाना वह सचराचर की सेवा भी उचित तरीके से नहीं कर सकता है। हर व्यक्ति का धर्म उसके भीतर है यही वेदों, ब्रह्मसुत्र का कथन है। हर व्यक्ति को अपना सत्य स्वयं खोजना होता है।

【 73 】 "अक्षरमम्बारान्त धृतेः" ।। १.३.१० ।।

अ = नहीं ; क्षर = क्षरण हो जिसका 【 अक्षरम् = क्षरण न हो जिसका 】 = अमर

अम्बारान्त = अम्बर - आकाश ,सचराचर , आकाश भी नहीं सीमा जिसकी तथा ।

धृतेः = धारण करने वाला ।

आत्मा ही सचराचर व्यापी है, धारण सर्जन और संहार उसी में व्याप्य है

नहीं होता क्षरण (नाश) जिसका , जो सचराचर में असीम है, ऐसा आत्मा ही यज्ञ है । सारे आकाश का अधिष्ठाता ऐसा आत्मा हम सब मे व्याप्त है ।

शरीर – जीवात्मा – आत्मा यह समिकरण है जीवन का । जीवन और जल आकाश (अंतरिक्ष) से धरती पर उतारे गए है । किसी भी ग्रह पर जीवन स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाता है । शरीर घर है जीवात्मा के लिए, जिसे स्वयं आत्मा बनाता है तथा उसकी रक्षा के करता है । जीवात्मा के पास उसकी स्वयं की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं है । सभी देहधारि जीव के शरीर रूपी रथ का संचालन आत्मा श्री कृष्ण ही कर रहें है । क्योकि किसी को भी अपनी सांसो और धङकनो आदी को चलाना नहीं आता है । जीव रूप हम सब इस शरीर रूपी घर में एक किराएदार की ही भांति है । प्रेतयोनियों में जीवात्मा के पास न तो आत्मा होती है न ही शरीर । आत्म अर्पित होकर ही हमें कर्म करना चाहिए । जो आत्मा से हटकर बाहर सत्ता सहारा खोजता है वह एक पंगु का जीवन जीता है ।

कर्मफल स्वतः ही आता है हमें आत्म अर्पित होकर कर्म करना है तथा कर्मो के फल की इच्छा स्वयं नहीं करनी चाहिए । जैसा हम बीज डालेंगें, फसल उसी के अनुरूप होगी । इसे उदाहरण से समझते है कि किसान ने बहुत मेहनत व लगन से खेत तैयार किया और बीज लेकर खेत के पास गया और कहा कि हे खेत ! मुझे अच्छी फ़सल देना । इस पर खेत ने कहा कि किसान यह सच है कि तूने बहुत मेहनत की है, परंतु जैसा बीज होगा फ़सल उसी प्रकार की होगी ।

बीज है हमारा "स्वभाव" । हम चाहें जितनी भी पूजा भक्ति करें, परन्तु उसका फल तो हमारे स्वभाव के अनुरूप ही मिलेगा ।

ज्ञान भी तभी लाभकारी एवं मोक्ष देने वाला है, जब वह आत्मा के संग है । परंतु यही ज्ञान जब मन का संग तब अहंकार व दम्भ को प्राप्त हो जाता है । मन की चंचलताओं के कारण हमारी बुद्धि आसक्तियों व अतृप्तिओं के वशीभूत हो जाती है और हमारा विनाश कर देती है । इसीलिए गीता में भी श्री भगवान ने कहा है कि "निर्ममो भव" अर्थात हमें अपनी स्वयं कमजोरीओं को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए , उसे निर्ममता पूर्वक दूर करने का प्रयास करना चाहिए, परंतु दुसरो के साथ पूर्ण सहानुभूति के साथ व्यवहार करना चाहिए ।

【 74 】 "सा च प्रशासनात्" ।। १.३.११ ।।

सा = वह, ऐसे, इस प्रकार ।

च = तथा

प्रशासनात् = करता शाशन सम्पुर्ण सचराचर पर होकर सर्व-व्यापी परमेश्वर घट घट वासी आत्मा अर्थात यज्ञ ही है ।

'सा' माने जीव तथा ऐसे आत्मा के ही अनुशाशन में जिव को जीना चाहिए । परन्तु हम जीते है मन के आधीन होकर । मन अर्थात इन्द्र नंपुसक है । इसमें कुछ भी उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है । जब आत्मा ही हम सबको उत्पन्न कर रहा है तो हमें भी आत्मा के सदृश होना चाहिए, तथा आत्मके अनुशाशन में रहेना चाहिए । जो आत्मा के अनुसाशन में रहते है वह सदा आनंदित रहते है, तथा जो मन के अनुशासन में रहते है, उनके शरीर भी अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाते है तथा वे दुख चिंता एवं भविष्य के भय में जीते है ।

वाह्य सम्पूर्ण जगत असत्य है, यहा तक की हमारा शरीर बौद्धिक ज्ञान मस्तिष्क आदि सभी चिता पर जल कर भस्म हो जाते है ।

जब हमारे हाथ पैर भी नहीं थे, सत्ता सामर्थ्य आदि कुछ भी नहीं था यह अवस्था हमारी गर्भस्थ शिशु के रूप में तथा यही अवस्था शरीर के चिता पर भस्म हो जाने के उपरांत होती है, तब हे आत्मा ! आप ही हमें मृत्यु की गहरी निद्रा से जगाते हो, आप ही हमें चैतन्य अवस्था मे लाते हो । और यह हमारा दुर्भाग्य है कि "स्व" जगत आत्मा कि तरफ हमारा ध्यान जाता ही नहीं है । वेद में सृष्टि रचना को बहुत महत्व दिया गया है । हम कौन है ! हमारे जीवन का उदेश्य क्या है । देव दुर्लभ योनि क्या है । यदि हम स्वयं को नहीं जानते है तो सदा दुखी एवं भयभीत रहते है यही हमारे दुख का कारण है।

【 75 】 "अन्यभावच्च्यावृत्तेश्च" ।। १.३.१२ ।।

अन्य भाव से भी आत्मा (ऋतेः च) यज्ञ के रूप में सर्वत्र देहधारियों में उत्पत्ति तथा नाना वृत्तियों को प्रकट करता है

अन्य प्रकार से, सभी प्रकार से अमर आत्मा (अक्षर) को ही उत्पत्ति का आधार कहा गया है । हर देह यज्ञशाला है और आत्मा ही बिज है । उत्पत्ति आत्म - यज्ञ से ही होती है ।

【 76 】 "ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः" ।। १.३.१३ ।।

ईक्ष = ईश , ईश्वर , आत्म यज्ञ

इति = इस प्रकार

कर्मव्यपदेशात् = आत्मा कि भाँति सम्पुर्ण सचराचर के निरंतर निष्काम कर्म में व्याप्त होकर

सः = जीव , जीवात्मा को यथा भाव कर्म करने के लिए प्रेरित करता है

जिस प्रकार आत्मयज्ञ सचराचर में व्याप्त होकर कर्म द्वारा सबका पालन धारण सब कुछ इच्छा रहित निष्काम भाव से करता है उसी प्रकार जीव-मात्र भी आत्म निम्मित होकर कर्म करें ।

कर्म का अनुसरण आत्मवत होना चाहिए । जैसे आत्मा पूर्ण निष्काम भाव से निरंत्तर जीवन को उत्पन्न कर रहा है तथा उसका पालन एवं प्रलय कर पुनः नूतन जीवन उत्पन्न कर रहा है यही कर्म का भाव हमें भी अपने जीवन में उतारना चाहिए ।

ब्रह्म (आत्मा) जब कोई भेदभाव नहीं करता तथा प्रकृति में भी कोई भेद नहीं है तो हमें भी आत्मा की ही भांति अभेद होकर जीवन जीना चाहिए ।

【 77 】 "दहर उत्तरेभ्य:" ।। १.३.१४ ।।

दहर :- सूक्ष्मातिसूक्ष्म जिसे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता । आंखों से देखना अथवा कानों से सुनना सम्भव ही नहीं । जो रूप रस गंध स्पर्श शब्द से भी जाना नहीं जा सकता ।

उत्तरेभ्य:- वहीँ सर्वव्यापी अंतर्यामी आत्मा ही ईश्वर है । उसे ही सृष्टा कहा गया है । उसे केवल अपने भीतर अतींद्रिय रूप से पाया जा सकता है ।

दहर जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म जिसे देखा न जा सके, जो रूप रस गंध स्पर्श और शब्द से भी नहीं जाना जा सकें,, वह आत्मा ही सूक्ष्म होकर हम सब में समाया है वहीं हमारे सारे उत्तर देता है, उसी को हमें जानना है ।

इसे ओर स्पष्ट करते है कि दहर जो है पर जाना नहीं जा सकता । आत्मा ही हमारे जीवन का समुचित उत्तर देता है, वहीँ सृष्टा है जो हम सब में व्याप्त है ।

स्री पुरुष का भेद वाह्य जगत के आडंबर भर है, सत्य नहीं है एक आत्मा ही सत्य है । आत्मा में लिंग भेद नहीं होता है । भेद से रहित अभेद होकर जीना ही आत्मतत्व को पाना है । जगत की नाट्यशाला के भेद सत्य नहीं है ।

【 78 】 "गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंगं च"

।। १.३.१५ ।।

गति :- अर्थात समय काल की सीमा से परे । शब्दो की व्याख्या से दूर तथा

दृष्टं = दृष्टि द्वारा ग्राह्य नहीं,

लिङ्ग = जिसका प्रतीक पहचान भी सम्भव नहीं ऐसा (दहर) सूक्ष्म आत्मा ही सृष्टा ईश्वर है जो घट घट वासी है ।

आत्मा से हटकर हमारी कोई गति उद्धार नहीं है हमें अंतिम रूप से आत्मा ब्रह्म से जुड़ना चाहिए । वेद की ऋग्वेद प्रथम मण्डल मधुच्छन्दा ऋषि के षष्टं सूक्त की प्रथम ऋचा: ।

युञ्जन्ति ब्रघ्नमरुषं चरन्त परितस्थुषः ।

रोचन्ते रोचना दिवि ।। १.६.१।।

योग करें ब्रह्य ज्योतिओ से । गतिओं का व्यापक स्वामी है पर स्थिर है । ज्योतिओं का ज्योति है और नित्य है ।

युञ्जन्ति = योग करें, जुड़ जाए, मिल जाए ।

ब्रघ्नम् = ब्रह्म से, आत्मा से ।

अरुषम् = ज्योतिर्मय उज्जवल ।

चरन्तम् = हर और गति मान है, गति प्रदान करने वाले है, चलाने वाले है ।

परितस्थुषः = व्यापकता से स्थिर है ।

रोचन्ते = ज्योतिओं का भी ज्योति है ।

रोचना दिवि = सम्पुर्ण गगन को, सचराचर को, जीवन ज्योतिओं से

परिपूर्ण करने वाला है नित्य है ।

आओं योग करें, जुड़ जाए अपनी आत्मा अनन्त से, डूब जाए आत्मा रूपी सागर में, उस आत्मारूपी ब्रह्मरूपी परमेश्वर को जाने जो घट घट वासी है । (अथातो ब्रह्म जिज्ञासा)

आत्मा हम सब में व्याप्त है, जो हमें और हमारे जीवन को गतिमान करने वाला है । प्रत्येक गति में स्वयं स्थिर है । अर्थात नित्य हो गया है । जो अन्नत का प्रकाश है । जो हमारे नेत्रों की ज्योति है । जो सम्पुर्ण सचराचर को ज्योतिर्मय बनाने वाला है । ऐसे अन्नत आत्मा से योग करें । अपनी ही अंतरात्मा से जुड़कर एक हो जाए । स्वयं से अद्वेत करें ।

आत्मा ही गति को प्रदान करने वाला है । तथा स्वयं प्रत्येक गति में स्थिर है । इसे स्पष्ट करते है । मिट्टी को अन्न फल में, तथा अन्नादि को जीवन की गति प्रदान करनेवाला आत्मा ही तो है तथा मनुष्य को बाल्यावस्था युवावस्था पौठावस्था कि गति को प्रदान करने वाला भी स्वयं, आत्मा ही है । हर और सभी गतिओं में आगे गया हुआ आत्मा ही तो है । आत्मा के बिना सचराचर अथवा जीवन की कल्पना का क्या प्रयोजन ? सबको गति देके भी अन्नत आत्मा सबमें स्थिर है । जैसे शरीर ही बाल्यावस्था युवावस्था कुमारावस्था को प्राप्त होता है । आत्मा अजर अमर है इसलिए प्रत्येक गति को जीवन देने वाला आत्मा ही है ।

सम्पुर्ण रोशनीओं को ज्योतिर्मय बनाने वाला तथा प्रत्येक ज्योति का जनक भी आत्मा ही है । यदि आत्मा रूपी सूर्य देह रूपी देवालय से हटे जाए तो तो उन मृत आंखों को कोई भी व्यक्ति हजारो सूर्य से भी प्रकाश, रोशनी नहीं दे सकता है । आत्मा रूपी प्रकाश के हटते ही हम मृत्यु के अंधेरो में खो जाते है । इसलिए आत्मा सभी प्रकाशको का भी प्रकाश है । आत्मा से रहित आंखे ज्योतिर्मय आकाश को भी अंधेरा कर देती है । आत्मा ही जीवन है । आत्मा ही गति है । तथा आत्मा ही गंतव्य है । आत्मा से ऐसे जुडो की कभी वियोग न हो ।

【 79 】 "धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः"

।। १.३.१६ ।।

धृतेश्च = तथा वह (दहर, आत्मा, यज्ञ) ही सचराचर को एवं देह मात्र को धारण करने वाला है ।

महिम्नो = उसकी महिमा को सभी धर्मग्रंथों ने गाया है ।

अस्य = ऐसे

अस्मिन = इस भाँति

उपलब्धि = हर ओर सर्वत्र आदि काल से सबके द्वारा ग्रहण किया गया है ।

अनु = उसका अनुसरण करना ही सत्य धर्म है ।

सचराचर को जिसने धारण किया हुआ है, ऐसे ब्रह्म को तथा उसी की महिमा को अपने भीतर विचारो में उभारते हुए उसी में सदा डूब कर जीना ही धर्म है । आत्मज्ञान को पाना और उसी को अपने जीवन की राह बना लेना ही धर्म है ।

प्राणिमात्र का एक ही धर्म है अपने सत्य को जानकर उसी में स्थित हो जाना । जिस प्रकार स्थान करने से भी प्यास नहीं बुझती है जब तक हम जल न पिये । इसी प्रकार आत्मा मे स्थित होना ही अमृतपान करना है ।

यह जीवन एक विश्वविद्यालय है, इसमे यह ही कक्षा प्राइमरी में ही सारी उम्र बिता देना कोई समझदारी नहीं है । जो आत्मा को नहीं जानते वह अधर्म को ही धर्म मानकर पाप करते है ।

【 80 】 "प्रसिद्धेश्च" ।। १.३.१७ ।।

प्र = प्रमुख , प्रकाशित हुआ कि

दहर = आत्मा ही सृष्टि का मूल है तथा

च = आत्माद्वेत ही जीवन का परम लक्ष्य है ।

इन सूत्रों को हमें पूर्व सूत्रों के संबंध मे देखना चाहिए कि दहर उत्तरेभ्य वह जो सब को उत्पन्न करने वाला वह जो दहर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है परमाणु में भी समाया हुआ है और सारा ब्रह्माण्ड उसी मे व्याप्त होते है । और कोई उसकी महिमा को नहीं पाता, ऐसा इन्द्रियातीत दहर ही आत्मा है । अपनी आत्मा को जानना जो हम सब को धारण करता है । "प्रसिद्धेश्च" सारे सद्ग्रन्थो , श्रुतियों , स्मृतियों , सृष्टि विज्ञान के ग्रंथों में उसी आत्मा को ही प्रमुख रूप से जगत का कारण माना है ।

जो भीतर आत्मा में गया ही नहीं , जिसने अंतर में कभी प्रभु के दर्शन किए ही नहीं, उसके मन में प्रभु के लीए प्रेम उत्पन्न ही नहीं होगा । वह सिर्फ दिखावा भक्ति करते है । अपनी मनोकामनाओं , अतृप्तिओं की पुर्ति के लिए और सारा जीवन इसी भ्रम में जीते है कि वे प्रभु भक्ति कर रहें है । हमारी सारी भौतिक उपलब्धिया यही रह जाती है और इस भ्रम के कारण हम अपने पूर्व के भी संचित शुभकर्मो को गवा बैठते है । दाता का पुत्र मांगें भीख यह तो अपने पिता परमेश्वर का अपमान करना हुआ ।

【 81 】 "इतरपरामर्शात्स इति चेन्ना सम्भवात्"

।। १.३.१८ ।।

इतर = इससे (दहर-आत्मा) से हटकर कोई भी विचार परामर्श

आदि ।

इति = इसके उपरांत

न = नहीं है ।

इससे विपरीत धर्म की व्याख्या

असम्भवात = असंभव है ।

आत्मा ही यज्ञ परमेश्वर घट-घट वासी सचराचर का नियंता कारण है । आत्मा के सदृश आत्मा का ही निम्मित ।

जैसा पहले कहा गया है कि आत्मा ही सत्य है । आत्मा ही घट घट वासी है वहीँ दहर (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) होकर हम सब में समाया हुआ है । इससे हटकर ईश्वर की कोई कल्पना नहीं है । तथा इससे हटकर कोई मोक्ष भी नहीं होता है ।

सनातन धर्म तथा उसके सभी ग्रंथ (पुराण , वेद आदि) ईश्वर को घट घट वासी मानते है । इसमें एक रहस्य है कि "स्रुष्टि है कहा , सृष्टा है जहां" वह स्रुष्टि सब के भीतर है । अगर सृष्टा (आत्मा) इसमें नहीं है तो फिर माँ के गर्भ में बालक कैसे बनता है । क्योकि किसी के माता पिता को शरीर का एक कोष भी बनाना नहीं आता है । हम अपने अंदर ईश्वर का वास नहीं मानते है तभी तो हम पाप कर्म में लिप्त हो जाते है । सनातन धर्म ने हर व्यक्ति को उसकी अंतरात्मा से जोड़ना चाहा है । हम किसी व्यक्ति को सुधार नहीं सकते है वह तभी सुधर सकता है जब स्वयं उसके अंतर से सुधरने की प्रेरणा मिलती है । अपनी अंतरात्मा से जुडने पर ही व्यक्ति पवित्र होता है ।

जो योग्य होगा उसी का उद्धार होगा । जो पूरी ईमानदारी से जीवन जीते है उन्हीं का उद्धार होता है । जीव मात्र का उद्धारक हम सब के भीतर बैठा है । ऐसा दृश्य (कमपष्य) कमनीय जो हमारा अंतरात्मा है, सत्य है वह हमारे भीतर है ।

वेदों की ऋचाओं में एक मुहावरा है "श्येनो न भीतो अत्तरो रजांसि" । ऋग्वेद । हिरण्यस्तूप आंगिरस । 2 सूक्त, 14 ऋचा । का अर्थ

है "श्येनों"-बाज अर्थात पिछा करती मृत्यु का भय, "न"- नहीं है उसको, "भीतो" - वह डरता नहीं है, "अन्नरो रजांसि" - जो यज्ञ अर्थात आत्मा की शरण पा गया । मृत्यु का भय कैसा ? जो हो गया आत्मा की शरण में । आत्मा से अद्वेत करने वाले को मृत्यु का भय नहीं होता है । जो अमर आत्मा से जुड़ जाता है वहीं अमरत्व अर्थात मोक्ष पाता है ।

【 82 】 "उत्तराच्चेदाविर्भुतस्वरूपस्तु" ।। १.३.१९ ।।

उत्तराचेत = प्रगट सत्य स्वरूप चैतन्य, निर्णय

आविर्भूतस्वरूपपस्त = स्पष्ट स्वरूप में स्थापित हुआ है कि आत्मा ही नियन्ता जनक कारण तथा उत्पत्ति कर्ता एवं प्रलय को प्रदान करने वाला (दहर) घट घट वासी है । उसमें स्थापित होना ही जीवन तप की सार्थकता है एवं मोक्ष का मार्ग भी मात्र वहीं है ।

हमारे सारे उत्तर इस जीवन के, सारे रहस्य ज्ञान और विज्ञान, वह सत्य जो चैतन्य है और सर्वत्र व्याप्त है और जो सबमें स्थित आत्मा है वहीँ मात्र सत्य है

वाह्य जगत निम्मित जगत है, भ्रम है, जेसे चक्राकार गुमते हुए चक्र को हम बाहर से देखे तो लगेगा कि कोई प्रगट हो रहा है फिर लोप हो जाता है । जो लोप हो जाता है वह फिर प्रगट हो जाता है । परन्तु जो चक्र के स्तम्भ पर विराज जाए तो उसे यह भ्रम नहीं होगा वहाँ न तो कोई लोप हो रहा है और न ही प्रगट ।

उत्पत्ती का क्षण जो हमारे भीतर है और हम बाहर ही भटक रहे है और हर क्षण श्मशान (मृत्यु) के करीब ही होते है । मोक्ष भीतर है और मृत्यु बाहर खड़ी है । यह निर्णय हमें करना है कि भीतर जाए बाहर भटके ।

【 83 】 "अन्यार्थश्च परामर्शः" ।। १.३.२० ।।

अन्यार्थश्च = अन्य प्रकरणो में भी यही

परामर्शः = परामर्श प्रदान किया गया है ।

पुराण लीलाग्रंथों में भी आत्मा को श्री राम, श्री कृष्ण , ब्रह्मा + विष्णु + महेश = ॐ आदि संज्ञा प्रदान की गयी है आत्मा ही सर्वत्र प्रत्येक जीवधारी में लीलावतार के रूप में नित्य प्रगट है । आत्मा ही यज्ञ तथा नवदुर्गा के रूप में लीलाओं में प्रगट हुआ है ।

अन्यस्थानों पर भी यही परामर्श है की आत्मा ही यज्ञ का अधिष्ठीत देव है आत्मा ही मूल यज्ञ है जो सचराचर में व्याप्त है । आत्मा ही जगत रूपी लीलामंच का लीलावतार है । श्री राम ,श्री कृष्ण आदि सभी आत्मा के ही नाम है, इसे कभी नहीँ भूलना चाहिए ।

ब्रह्मसूत्र में जीवन का अमूल्य ज्ञान निहित है, जो भेद-भाव से रहित है, वहीँ सच्चा ज्ञानी है । वाह्य आडंबर से व्यक्ति की समाझ में एक पहचान बनती है परंतु वह उसकी असली पहचान नहीं है । हम सब की एक ही पहचान है, एक ही जाती गोत्र है वह है आत्मा ।

【 84 】 "अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम" ।। १.३.२१ ।।

अल्प, श्रुतः, इति, च, इत्, तत्, उक्तम्

सूक्ष्म (दहर) सुना गया है ऐसे तथा वहीँ उक्तियों एवं सूक्तियों में प्रगट हुआ है । सूक्ष्मातिसूक्ष्म (परंब्रह्म) है तथा सम्पुर्ण सचराचर मिल कर भी नहीं भर पाते उसे । वह परंब्रह्म (ब्रह्माण्डो से भी व्यापक) है । वही आत्मा यज्ञ के रुप में सभी देहों में व्याप्त ईश्वर है ।

वह जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है जिसे जाना नहीं जा सकता है परंतु जिसे अल्पज्ञ भी जानता है, जैसे समस्त जीव जन्तु पक्षी सचराचर आदि सभी ईश्वर पर ही निर्भर होकर जीते है । मनुष्यों को छोड़कर सभी जीवों को ईश्वर पर पूर्ण विश्वास है कि ईश्वर उनका भरण पोषण करेगा । कोई भी पशु पक्षी आदि अपना तथा अपने बच्चों के भविष्य आदि की चिंता नहीं करता है तथा मृत्यु को भी सहज होकर वरण करते है । यह मृत्यु के भय से नहीं जीते है, परंतु मनुष्य सदा अपनों के भविष्य की चिंता में रहता है । मृत्यु का भय भी सदा बना रहता है और ऊपर से दम्भ भी भरता है कि वहीँ सबसे समझदार और सही तरीके से जीवन जी रहा है ।

भौतिक आसक्तियो के कारण हम यह तो जानना चाहते है कि हमारे लिए क्या है ? । परंतु हम स्वयं क्या है यह जानने की हमारी कभी जिज्ञासा नहीं होती है । मृत्यु का भय मृत्यु को ईश्वर से भी ज्यादा महत्वपूर्ण बना देता है, परंतु जो अपने अंतर में आत्मा से जुड़ जाते है, उन्हें फिर मृत्यु का भय नहीं रहता । आत्मा ही हमें आवगमन के चक्र से मुक्त करता है ।

यहां एक विलक्षण विडम्बना है कि ईश्वर तो आत्मा होकर हमारे भीतर है, परंतु हम ईश्वर में नहीं है । हम अपने भीतर कैसे जाए ? इसी समस्या के समाधान के लिए सनातन धर्म में मुर्ति पूजा का विधान रखा गया है । ईश्वर के किसी भी रूप में श्रद्धा एवं समर्पण के साथ जब हम अपने मन को जोड़ देते है तो वहीं रूप हमे हमारे भीतर आत्मा से जोड़ता है । मूर्ति पूजा मानव मनोविज्ञान का उन्नत शिखर है ।

【 85 】 "अनुकृतेस्तस्य च" ।। १.३.२२ ।।

हम सब आत्मा की अनुकृति प्रतिकृति है । तथा आत्मस्थ होकर आत्मा के निम्मित होकर तथा उसकी अनुकृति (प्रतिरूप) होकर संसार जीना ही उत्तम धर्म है ।

हम सब प्रभु की बनाई हुई अनुकृतियाँ है प्रभु का ही रूप है । जब ईश्वर ने ही हम सब को बनाया है तो हम पाप कर्म , जुठ , फरेब इत्यादि क्यों करते है । ईश्वर को ही जीवन की राह में धारण करे । यह बहुत ही सुंदर सूत्र है ।

बाह्य जगत एक नाट्यशाला है । जब हम शरीर के एक कोष को भी नहीं बना सकते है तो फिर विधाता बनने का ढोँग क्यो करते है ? स्वयं परमेश्वर ने जब इस शरीर को बनाया है तो इससे पवित्र मंदिर या देवालय और क्या हो सकता है ।

यदि हमारी धर्म में आस्था है तो फिर ईश्वर की ही प्रतिकृति बनकर जीना चाहिए ।

【 86 】 "अपि च स्मर्यते" ।। १.३.२३ ।।

स्मृतियों का बिलोया हुआ सत्य है यह । स्मृतियों ने भी आत्मानुसरण को सार्थक जीवन की राह बताया है तथा सदा उनका स्मरण करें कभी भी उसे जगत व्यवहार में भी भूले नहीं ।

इसे सदा स्मरण रखे कि हम सब नारायण की अनुकृति है । हमें ईश्वर जैसा ही बनकर जीना है । इसे सदा स्मरण रखों । सारे ग्रन्थ , श्रुतियाँ यहीं कहते है कि हमें सदा आत्मा में ही जीना है ।

योगी की राह भीतर की होती है । बाहर संसार एक बाजार है । जहा किसी को भावनाओं की कद्र नहीं है । वैकुण्ठ हमारे भीतर है । जिसने कुण्ठाओं का परित्याग किया उसी ने वैकुण्ठ पाया । हम सब अतित की पीड़ाओ का स्मरण कर सदा दुःखी रहते है यही नरक जीना है ।

वेद के ऋषियों ने भी परमेश्वर से प्राथना कि भौतिकता, धन के पीछे भागती हमारी मनोवृत्तिंओ को हे आत्मा ! हे यज्ञ ! नष्ट करो । ईश्वर के हाथों दिया हुआ आयु का प्रसाद हमनें दुख क्लेश गंदे विचारो

में बरबाद किया है । इस माया धन के लिए हमारा अपनों पर ही विश्वास नहीं है । पाप की अंतिम अवस्था है यह । हमारे भटकाव खत्म हो और एक आत्मा में ही हमारा विश्वास हो । धन की अधिकता विष के समान है । आज हम ईश्वर को नहीं माया को भजते है । हम आज विष चाहते है इंद्रियों के विषयो का परंतु आत्मा का अमृत नहीं ।

【 *87* 】 "शब्दादेव प्रमितः" ।। १.३.२४ ।।

शब्दात् एवं प्रमित

उपरोक्त सूत्रों के शब्द संदर्भों से इस भांति स्पष्ट है कि इनसे परमात्मा, यज्ञ, ईश्वर, घट घट वासी आत्मा ही *(* प्रमित *)* परिमार्जित होता है । इन शब्दों से आत्मा की सूक्ष्मता एवं व्यापकता परिमार्जित होति है ।

जो कुछ भी कहा गया है वह आत्मा कि स्व जगत और निम्मित जगत की सम्पुर्ण व्याख्या है । हम व्यवहार जगत में इसके बिल्कुल विपरीत जीते है । भौतिकताओ में आसक्त होकर जीना वास्तव में अमृत तुल्य अपनी उम्र *(* आयु *)* के क्षणों को तबाह करना है । मन को सदा सत्संग में रखने से हम वाह्य जगत में लोभ, पीड़ा, मोह आदि से बचे रहेंगे ।

भक्ति जीवन का अमृत है, यह अतिशय निर्मल पवित्र धारा है । भौतिक आसक्ति विषयान्धताओं के साथ कभी भी ईश्वर की भक्ति नहीं हो सकती है हमें निरन्तर देखना चाहिए कि हम कहा जा रहे है, क्योंकि हर क्षण हमें श्मशान *(* मृत्यु *)* के करीब ले जा रहा है । हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जिन माया से हमें लड़ना है वह अति बलशाली है । हम सब न तो धन ऐश्वर्य भौतिकताओं को भोगते है, हम सब ईश्वर ईश्वर के द्वारा दी गयी आयु के क्षणों को भोगते है । और जब उम्र के क्षण खत्म हो जाते है तो मर जाते है । इसीलिए बहुत ही सावधान

होकर जीना चाहिए ।

【 88 】 "हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारात्" ।

।। १.३.२५ ।।

हृदि, अपेक्षया, तु, मनुष्य, अधिकारात् ।

हृदय में ही आत्मा का वास है । यही वह मनुष्य का अधिकार क्षेत्र है प्रभु मिलन हेतु । ईश्वर को देह के भीतर हृदय (शरीर रूपी गुहा) में योगस्थ अद्वेत करें ।

हृदय में उसकी अपेक्षा करें न कि विषयों में लिप्त हो । अध्यात्म में हृदय का तात्पर्य होता है सम्पुर्ण शरीर रूपी गुहा इसे मात्र शरीर का एक अंग हृदय (दिल) नहीं समझना चाहिए । ईश्वर को अपने से दुर नहीं करना चाहिए वह घट घट वासी है । ईश्वर को पाने का अधिकार पिछे अंतरात्मा में है ।

प्रकृति के नियम अकाट्य, अटल होते है, उन्हें किसी भी परिस्थितियों में बदला नहीं जा सकता है । ईश्वर का सत्य प्रकृति में प्रगट होता है । सचराचर प्रकृति ही वह ईश्वरीय ग्रन्थ है जिसे स्वयं प्रभु अपने हाथों से नित्य निरंतर लिखते है । उसी प्रकृति रूपी ग्रंथ के हम सब भी एक अक्षर है । वेद आदि ग्रंथ इसी प्रकृति रूपी ग्रंथ के भाष्य ग्रंथ है ।

भौतिक इच्छाओं अतृप्तियों, विषय वासनाओं के साथ कभी भी प्रभु भक्ति नहीं हो सकती है । ईश्वर परम् पवित्र एवं अतिशय निर्मल है । ईश्वर से मिलने के लिए हमे भी ईश्वर के सदृश्य ही अतिशय निर्मल एवं पवित्र होना होगा । यही प्रकृति का नियम है ।

【 89 】 "तदुपर्यपि बादरायाणः सम्भवात्" ।

।। १.३.२३ ।।

तदुपर्य अपि बादरायण सम्भवात्

तद्धपि बादरायण (वेदव्यास) ने भी इसी सत्य को सम्भव अर्थात मानव सुलभ माना है । अपनी रहस्य लीलाओं पुराणों एवं कथाओं में मूर्ति में अपने प्राणों को अंतिम समर्पण भाव से अर्पित कर इस मूर्ति को पुनः आत्मा में अंतः मुखी होकर स्थापित कर योगस्थ होना ही मार्ग है ।

बादरि = बेर , रेशम् , सूत तथा दक्षिणवर्ती शंख ।

बारायण = वेदव्यास का नाम

बादरायणि = शुकदेव ।

तदुपरांत इसके अलावा भी भगवान वेदव्यास ने अपनी लीला-कथाओं काव्यों में स्वयं वेदव्यास ने इसी मार्ग (मूर्तिपूजा) को मानवों के लिए भक्ति का सुलभ मार्ग बताया है तथा इसी का अनुमोदन किया है । मूर्तिपूजा के द्वारा ही हम अपने भटकते मन को एकाग्र कर अपनी आत्मा में प्रवेश पा सकते है ।

ईश्वर के सभी रूपों में विशेषकर बाल छवी का विशेष रूप से ध्यान करने पर बालरूप ही स्वाभाविक कोमलता व भोलापन हमारे भावों मे आ जाता है जिससे हम आत्मा (ईश्वर) के करीब स्वाभाविक रूप से आ जाता है । मूर्ति में जब भक्तगण पूर्ण श्रद्धा व समर्पण से अपने प्राणों को प्रतिष्ठित करते है । तभी मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठित होती है ।

निर्गुण निराकार ईश्वर को सगुण साकार रूप में जीवंत करना ही भक्ति का चमत्कार है ।

【 90 】 "विरोध: कर्माणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात्" ।। १.३.२७ ।।

विरोध:, कर्मणा, इति, च, न, एनान् , एक, प्रति, पत्ते, दर्शानात् ।

गुण कर्म के विरोध भेद यहा नहीं है, तथा एक आत्मा ही सर्व प्रति उत्पत्ति प्रलय आदि का कर्ता, धर्ता तथा सम्पुर्ण गुण कर्म का प्रदाता एवं धारण करने वाला है । सर्वव्यापी है । एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक है, यहीं सत्य दर्शन है ।

विपरीत परिस्थितियों में भी कर्म के भेदभाव को लेकर भी तथा अनेक प्रकार से व्याख्या होने पर भी जो दर्शन है वह बदलता नहीं है ।

अक्शर लोग यह कुतर्क करते है कि जब ईश्वर घट घट वासी है तो बुरे लोग क्यो है ? इन तर्को का कोई अर्थ नहीं है । ईश्वर आत्मा ने प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि की स्वतंत्रता प्रदान की है । मनुष्य के अलावा सभी जीव अतीन्द्रिय ज्ञान ब्रह्मरंध्र (पीनियल बॉडी) की सक्रियता से सीधे ईश्वर (आत्मा) द्वारा प्रेरित एवं संचालित होते है । चौरासी लाख योनियाँ जीव के पढाने के लिए जीवन रूपी पाठशाला की कक्षाएँ है, जहाँ स्वयं ईश्वर आत्मा होकर जीव को जीवन निष्काम एवं इच्छारहित होकर कैसे जीना चाहिए यह सिखलाता है । मनुष्य की योनि परीक्षा कि योनि है, जहाँ स्वयं इश्वर (आत्मा) परीक्षक है जो हमें शरीर रूपी उत्तर पत्रिका देता है ओर परिस्थितियों का प्रश्नपत्र लाता है । अगर सभी परिस्थितियों में निष्काम एवं इच्छारहित रहते है तभी उत्तीर्ण होंगे, अन्यथा फिर योनियों में दोबारा पढ़ने जाना पड़ेगा । इस संसार रूपी माया के महासमर महाभारत के प्रत्येक जीव (अर्जुन) को स्वयं ही लड़ना होगा आत्मा होकर ईश्वर हमारे जीवन रूपी रथ का सिर्फ संचालन करते है ।

【 91 】 "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" । ।। १.३.२८ ।।

शब्द इति च एन अतः प्र भवात् प्रत्यक्ष अनुमानाभ्याम्

उपदेश प्रवचन आदि ऋषियों के द्वारा ऐसा ही है । अतः अमर उत्पत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण वेदादि तथा अनुमान (स्मृति आदि ग्रन्थों में भी स्पष्ट कहा गया है) आत्मा ही यज्ञ ईश्वर तथा सम्पूर्ण कर्मादिक का कर्ता , धर्ता , परमेश्वर है । आत्मयोग में ही उद्धार सम्भव है । शब्द कहते है दिव्य वचन, प्रवचन, सद्वानी , सद्ग्रन्थ आदि में जितने भी शब्द है तथा जो कुछ कहा गया है अथवा नहीं कहा गया है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण (वेद) अनुमान प्रमाण (स्मृतियों) में भी जो कुछ कहा गया है कि ईश्वर आत्मा होकर हम सबके भीतर वास करता है । जो आत्मा से योग कर गया उसी का तप सार्थक है । ईश्वर को अपने से अलग मानना , सप्त लोकों की कल्पना व्यर्थ है । यह हमें अपनी आत्मा ईश्वर से दूर भटका ले जाति है । सारे लोक , समस्त ब्रह्माण्ड हमारे भीतर है । हमें अपनी आत्मा में ही मिलना है यहीं योग है । जिसका मन आत्मा के साथ जुड़कर स्वतंत्र नहीं हुआ वह अधम स्तर का विषयों का गुलाम है । हम स्वयं को स्वतंत्र मानते है परन्तु हम यह भूल जाते है कि हम आज भी असुर मनोवृत्तियों के गुलाम है । धर्म के नियम प्रकृति के नियमन होते है । वे अटल होते है । उन्हें अपनी सुविधानुसार बदला नहीं जा सकता है क्योंकि " ***Human Wisdom can Always Confused, but Nature can Not*** " (मानव बुद्धी सदा भ्रमित हो सकती है परन्तु प्रकृति कभी नहीं) इसीलिए सत्य को सदैव तर्क और प्रमाणों की कसौटी पर प्रकृति में ही परखा जाता है तभी वह ग्राह्य है अन्यथा नहीं । वेदों को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है । क्योंकि वेद हमें सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन कराते है । वेदों ने प्रकृति को

ही मूलधर्म ग्रंथ माना है । जिसे स्वयं परमेश्वर आत्मा नित्य निरन्तर लिखतें है । जिसके सभी जीव जन्तु सचराचर तथा मनुष्य एक अक्षर है ।

"अन्ति सन्तं न जह्याति अन्ति सन्तं न पश्यति" ।

"देवस्य पश्य काव्यं न मर्मार न जिर्यते" ।।

।। अथर्ववेद । 110 काण्ड । 8 । 32 ।।

मृत्यु ही अन्तिम सत्य है ऐसा संत ऋषि नहीं मानते है । वह धर्म ग्रंथ कैसा जो नष्ट हो जाए । धर्मग्रंथ कोई मरे हुए अक्षर या किताब नहीं हो सकता है । "देवस्य पश्य काव्यं न मर्मार न जिर्यते" देखो । ईश्वर का कार्य अर्थात रचना इस प्रकृति को देखो जो न कभी मरती है और नहीं जिंर्णता को कभी प्राप्त होती है, पुनः जीवंत हो उठती है । यही मूल धर्म ग्रंथ है, आत्मा यज्ञ ही इस प्रकृति रूपी धर्म ग्रन्थ का लेखक है । वेदशास्त्र, आरण्यक, उपनिषद, पुराण आदि समस्त ग्रन्थ इसी प्रकृति रूपी मूल धर्मग्रन्थ के भाष्य ग्रंथ है । इसे हमें अच्छी तरह से स्पष्ट कर लेना चाहिए कि ईश्वर द्वारा रचित अक्षर किसी मरे हुए भोजपत्र या पुस्तकों में नहीं होता है । वेद ने माना है कि वे परमेश्वर के द्वारा अध्यात्मिक विश्वविद्यालय के पाठय-क्रम के रूप में प्रगट हुए है । जिस प्रकार विभिन्न कक्षाए विश्वविद्यालय में होती है । तथा उसके विभिन्न पाठ्यक्रम होते है । उसी प्रकार सम्पुर्ण ग्रन्थ अध्यात्मिक विश्वविद्यालय के पाठ्य-पुस्तकों के समान है । जब की मूल धर्म ग्रंथ प्रकृति एक ही है । वह धर्मग्रन्थ भोजपत्रों अथवा पुस्तकों के रूप मे नहीं है । "सम्पुर्ण प्रकृति ही परमेश्वर द्वारा लिखा जा रहा निरन्तर धर्मग्रन्थ है " । तथा समस्त जीवमात्र एवं जीवन्त पेड़ पौधे उसके अक्षर है । मनुष्य भी इसी क्रम में इसी प्रकृति रुपी मूल धर्म ग्रंथ का एक अक्षर है जिसे स्वयं परमेश्वर आत्मा बनकर प्रतिक्षण लिख रहें है । सम्पूर्ण अध्यात्मिक विश्वविद्यालय का मूल उदेश्य मनुष्य की मानसिकता को पूर्ण परिपक्वता प्रदान कर ऋषि के स्तर तक लाने में है । जिससे वह यह मूल धर्म ग्रन्थ प्रकृति को स्वयं आत्मस्थ होकर ग्रहण कर सके । इसीलिए सनातन धर्म

में व्यक्ति पूजा का महत्व नहीं दिया गया है । प्रकृति को मूल धर्मग्रन्थ माना गया है तथा धर्म को तर्क शास्त्र (प्रकृति प्रमाण) की कसौटियों से वरद किया गया है । अन्यधर्मों में तर्कहीन संदेह रहित पशुवत आचरण को धर्म की राह माना गया है । इस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति विदेशी धर्मों से अलग स्थान तथा मान्यता को ग्रहण करती है ।

【 92 】 "अत एव च नित्यत्त्वम्" ।। १.३.२९ ।।

अब इस भाँति भी आत्मा में ही नित्य अमर राह की कल्पना है । आत्माद्वेत ही लौटा मार्ग है । वेद तथा ब्रह्मसूत्र सूत्रात्मक भाषा है । इसीलिए जो भी शब्द जहाँ भी कहे गए है सबका अन्तर्निहित भाव यहीं है कि आत्मास्थ होकर ही नित्य अमर अवस्था पायी जाती है । जीवन की उत्पत्ति सत्य आत्म जगत में ही होती है । वाह्य निम्मित जगत में नहीं जो वाह्य जगत को ही सत्य मान लेते है वह सदा के लिये भटक जाते है ।

【 93 】 "समाननामरूपत्वाच्चावृतावप्य विरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च" ।। १.३.३० ।।

समान, नाम, रूपत्वा, च्च, आवृता, अपि, विरोधो, दर्शनात्, स्मृतेश्च

नित्य निरन्तर आत्मा आराध्य के रूप में एवं नाम तथा समर्पण, अर्पण, मे व्याप्त सभी प्रकार के (भौतिक) अवरोधों से मुक्त होकर आत्मयज्ञ में व्याप्त अद्वेत होना जीवन का मात्र लक्ष्य है । वेदादिक प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुमानादिक स्मृति ग्रंथों का निर्णय मानना चाहिए । उसमें किसी भी प्रकार का विरोधाभास नहीं है । समान भाव से भी निरंतर तत्व में बसे हुए, उसी में डूबे हुए अपने आप को अर्पित करना

ही सत्य की राह है । इससे हटकर कोई राह नहीं है । वेदों का भी यहीं मत है । ऋग्वेद प्रथम मण्डल मधुच्छदा ऋषि के दूसरे सुक्त कि छट्ठी ऋचा ।

वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम् ।

मक्ष्यित्था धिया नरा ।। ऋग्वेद - १.२.६ ।।

आकर मिट गया जो तुम्हारी ही ब्राह्माग्नियों में ! यज्ञ के द्वारा नित्य स्थायित्व को पाया उसने ! हे प्राणवायु ! अमर हुआ वह !

(वायविन्द्रश्च) - हे प्राणवायु ! आपके तथा महा आचार्य अर्थात आत्मा के द्वारा (सुन्वत) उत्पन्न किये हुए अमृत को वहीँ ग्रहण करता है । जो (आयातम) आकर (उप) व्याप्त हो जाता है अर्थात स्वयं को आत्मा रूपी यज्ञ में व्याप्त कर देता है । (निष्कृतम्) व्याप्त होकर आत्मा में जो संपूर्णता और व्यापकता से यज्ञ होकर, यज्ञ स्वरूप हो जाता है । (मक्ष्यित्था) आत्मा में स्थित हुए अर्थात आत्मस्थ होकर आत्मस्वरूप हो गया यज्ञ पुरुष ही (नरा) ब्रह्मज्वालाओं से के द्वारा यज्ञ की अग्नीयों के द्वारा उस अमृतमय स्वरूप में (धिया) प्रगट होता है अर्थात उस स्वरूप को धारण करता है । हे प्राणवायुः ! सम्पुर्ण सचराचर में सभी यग्यो में आत्मा रूपी आचार्य के साथ उपाचार्य स्वरूप प्रतिष्ठित होने वाले, आपके तथा आत्मा के द्वारा ब्रह्म-ज्वालाओं में आत्मा रुपी हवनकुण्ड मे उत्पन्न हुए , प्रगट हुए अमृत का वही पान करता है जो स्वयं को जीवंत एवं व्यापकता से अपने ही अंतर में आकर, ब्रह्मज्वालाओं को धारण करने वाले यज्ञ के पुरुष के ज्योतिर्मय स्वरूप में जन्मता है, प्रगट होता है ।

शहद की मक्खीयाँ पुष्प - पुष्प पर भटक कर शहद के कणों को बटोरती है । वे शहद की मख्खियाँ अपने द्वारा उस अर्जित शहद के कणों को कृष्ण पक्ष की अंधेरी रातों में ग्रहण नहीं करती, भुखी रहकर

शुक्ल पक्ष की उजेलि रातों की प्रतीक्षा करती है ।शुक्ल पक्ष की उजेली रातों में शहद की मक्खियाँ अपने द्वारा अर्जित मधु का पान करती है । शहद बटोरने वाले इस सत्य से भलीभाँति परिचित है इसीलिए वे अमावस्या के पास में मधुमक्खीयों के छत्तो से शहद एकत्र करते है । शहद बटोरने वाले यह भी जानते है शुक्ल पक्ष की उजेलि रातों में उन्हें खाली मधुमक्खीओं की झोझ ही मिलेंगी उसमें शहद नहीं होगा । उन शहद कि मख्खियों की भांति ही, हे मनुष्य तुने भी जन्म जन्म योनी योनि भटक कर मनुष्य योनि के उन क्षणो को जीवनके, शहद की मक्खियों की भांति एकत्र किया है । न जाने कितनी योनियों में, कितनी योनियों में तप कर के हमें यह मनुष्य योनी मिल पायी है । अब यह हम पर निर्भर करता है कि हम इस दुर्लभ मनुष्य की योनि के क्षणों को विषय-वासनाओं की अंधता की काली अंधेरी रातों में नष्ट करदे ओर पुनः आवागमन की राह पर भटकते चले जाए अथवा आत्मज्वालाओं की सिग्ध ज्योतिओं में, जीवन के शक्ल पक्ष में मनुष्य योनि के अमृतमय क्षणों को आत्मा में अभिष्ट को प्राप्त करें, यह निर्णय हमें स्वयं ही करना होता है । आत्मस्थ आत्मज्वालाओं के शुक्ल पक्ष में जीवन को शहद ग्रहण करें अथवा वासनाओं के अंधेरे पक्ष की अमावस्या को जीवन की राह बनाए । जिसने स्वयं को विसर्जित किया, संकल्प रूप तिरोहित हुआ अपनी ही आत्मग्नियों में मिटाकर अस्तित्व अपना, ब्रह्मज्वालाओं ने उसे यज्ञ का सन्मान प्रदान किया नित्य देवत्व अमरत्व को पाया उसने ।

【 94 】 "मध्वादिष्वस्वम्भवादनधिकारं जैमिनि"।

।। १.३.३१ ।।

मध्व, आदि, ष्व (श्व), सम्भवात्, अनाधिकारं, जैमिनि

मध्व :- म् = मृत्यु, ष्व = ध्वस्त करनेवाला , मृत्युञ्जय

(मध्वाचार्य) – एक आचार्य आदि भी मृत्यू (श्व) से पुनः अमर सम्भव होने को अनाधिकार अर्थात असम्भव नहीँ मानते है तथा जैमिनी: – (जेमिन – जिमना, यज्ञ में ग्रहण किये जाना तथा एक ऋषि का नाम) जैमिनी आदि तथा उनके गुरु वेदव्यास का भी यहीं मत है ।

ब्रह्मसूत्र के सूत्रो के एक से अधिक एक से अधिक अर्थ भी निकलते है जैसे "मध्वा" का अर्थ (म् = मृत्यु, ध्वा = ध्वस्त करनेवाला) मृत्यु को भी परास्त करने वाला अर्थात अमर आत्मा जो मिट्टी को मनुष्य का रूप देता है ।

मध्वा शब्द का दूसरा अर्थ यहा द्वेत वादी आचार्य माधवाचार्य के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जो जीव और आत्मा को अलग मानते है । इस सूत्र में माधवाचार्य के द्वेत सिद्धान्त को लक्ष्य करके यहीं कहा गया है कि जीव और आत्मा को अलग बताना असम्भव है, सत्य नहीं है । यह अनाधिकार बात है । क्योंकि "जीव की उत्पत्ति ईश्वर से है" तो वह अलग कैसे हो सकता है । ब्रह्म (आत्मा) से ही समस्त जीव सचराचर की उत्पत्ति होती है । यहीं सत्य है जिसे जैमिनी ऋषि तथा उनके गुरु वेदव्यास भी सत्य मानते है । जैसे जल और बर्फ देखने में भले ही अलग अलग दिखे परंतु तत्त्व रूप से दोनो अभेद है ।

जीव और आत्मा के अभेद तत्त्व को वेदों में भी स्पष्ट एवं बहुत ही सुंदर रूप में दर्शाया गया है । ऋग्वेद प्रथम मण्डल मधुच्छदा ऋषि चतुर्थ सुक्त की प्रथम ऋचा ।

"सुरूप कुलुमृतये सुदुधामिव गोदुहे" ।

"जूहूमसि द्यविद्यवि" ।। ऋग्वेद १.४.१ ।।

सम्पुर्ण सगुण सचराचर को विचित्र करने वाले स्वनिर्मित कृति में स्वयं बंध जाने वाले दुधारी गौओं का दोहन करने वाले घट – घट , क्षण क्षण यज्ञमयी छवि का दरश तुम्हारा ।

(सुरुप) – सगुण साकार रूपी सचराचर को (कुलू) उत्पन्न चित्रित करने वाले कलाकार (मृतये) अपनी ही बनाई हुई मूरत, कला कृतियों में स्वयं बंध जाने वाले (सु) दिव्य, अलौकिक (दूधाम) दुफाउ गौओं की (इव) भांति सम्पुर्ण सचराचर का गोदोहन करने वाले (गोदुहे) ग्वाले । (जुहूमसी) जुहा लिए हाथ में तुम्हारी ज्योतिर्मय छवि को (द्यविद्यवि) घट घट , क्षण क्षण दर्शन करते है हम सदा ।

कैसी अद्भुद लीला है तुम्हारी एक अद्भूद , अलौकिक चित्रकार की भांति सम्पूर्ण सचराचर को विचित्र करते हो तथा फिर अपने ही बनाए चित्र मूर्ति में स्वयं बंधकर उसे जीवन्त कर देते हो । बनाते हो चित्र और बंध जाते हो उस चित्र में स्वयं ।

जब भी प्रकृति रूपी माता यशोदा, आत्मा रूपी श्री कृष्ण को इस शरीर रूपी ऊखल के साथ बांध देती है तो यह जड़ ऊखल रूपी शरीर जीवंत हो चलने फिरने लगता है ओर जिंदगी की न जाने कितनी दहलीज़े पार कर जाता है । और जिस दिन माँ प्रकृति रूपी यशोदा, आत्मा रूपी गोपाल को इस शरीर रूपी ऊखल से अलग कर देती है तो यह शरीर रूपी जड़ ऊखल जो आत्मा श्री कृष्ण के स्पर्श से चेतन हो उठा था वह अंत पा जाता है ।आत्मा से रहित यह शरीर मात्र भस्मी (मिट्टी) ही है, जब भी पारस कन्हैया अर्थात आत्मा का स्पर्श पाता है । मिट्टी से फल अन्न तथा बालक बन जाता है ।

【 95 】 "ज्योतिषि भावाच्च" ।। १.३.३३ ।।

ज्योतिर्विद स्रुष्टि – उत्पत्ती प्रलयआदि के नियमन की अवधारण के भाव से भी जीव की मानसी उत्पत्ति ब्रह्म से ही है । दोनो अंश एवं अंशी के समान है । भेद नितान्त असम्भव है । अंशी का अंश से अद्वेत करना ही योग है तथा योगफल मोक्ष है ।

इस सूत्र को पूर्व सूत्र के संदर्भ में ही देखना चाहिए । जैसा कि

पूर्व सूत्र में आया है कि माधवाचार्य ने जो कहा कि जीव और आत्मा अलग अलग है, इसी का खण्डन करते हुए इस सूत्र ज्योतिषि भावाच्च में स्पष्ट कर रहे है कि ज्योतिर्वेद के अनुसार जीव और आत्मा का द्वेत सत्य नहीं है । अज्ञान के कारण ही जीव स्वयं को ईश्वर से अलग मानता है ।

आत्मा और जीव दोनो रूप हमारे है । एक रूप से हम आत्मा है और दूसरे रूप से हम जीव भी है । आत्मा को सृष्टि उत्पत्ति का सम्पूर्ण ज्ञान तथा सामर्थ्य प्राप्त है जीव मात्र भोक्ता है । जीव का आत्मा से मिलन ही योग है तथा इसीको अद्वेत कहते है ।

जीव और आत्मा को अलग मानना सत्य नहीं है । रामचरित मानस में भी तो कहा गया है कि "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" जब जीव ईश्वर (आत्मा) का ही अंश है तो फिर उसमें भेद कैसे हो सकता है । भगवद्गीता में भी भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि पाण्डवो मे में ही जीव रूप अर्जुन हु । जब ब्रह्म की मानसी उत्पत्ति है तो वह ब्रह्म से अलग कैसे हो सकता है ।

【 96 】 "भावं तु बादरायणोऽस्ति ही"।। १.३.३३ ।।

बादरायण वेदव्यास तथा अन्य सभी ऋषियों ने भी आत्मा तथा जीव को अंश एवं अंशी ही माना है तथा उन्हें अलग नहीं माना । आत्माद्वेत (आत्मा से अद्वेत करना) ही धर्म है तथा यहीं मोक्ष का द्वार है ।

इस सूत्र को पिछले सूत्र के साथ ही देखना चाहिए । बादरायण वेदव्यास आदि ने अपने सभी स्मृतिग्रंथों में इसी भाव को लिया है कि जीव और आत्मा अलग नहीं है । वहां कोई द्वेत नही है । जीव और आत्मा अंश तथा अंशी है तथा जीव और आत्मा का मिलन ही योग है ।

【 97 】 "शुगस्य तदनादरश्रवणात्तद्राद्रवणात्सुच्यते हि" ।। १.३.३४ ।।

शुक अस्य तत् अनादर श्रवणात् तत् आद्रवणात् सुच्यते हि

तोते की भांति (पिंजडे से छुटने पर) सूने को भी अनसुना करते हुये आत्मतत्व रूप सम्पदा द्रव्य को अर्पित सूक्ष्म तीक्ष्ण आत्म-लक्ष्य पर स्थिर होकर अंतः करण मे समाधिस्थ होना ही आत्मयोग का मार्ग है ।

कुछ पुस्तकों में शुकस्य के स्थान पर सुकस्य का प्रयोग हुआ है । परंतु अर्थ समान है, पिंजडे मे बंद तोते का उदाहरण लिया गया है । हम सब जीव भी मोह माया आसक्ति विषयासक्ति रुपी पिंजडे मे बंद है । तोता जब पिंजडे से छूट जाता है तब वह अपने पुराने मालिक के शब्दों को अनसुना कर अनादर कर देता है । और सीधा खुले आसमान में उड़ जाता है । इसे एक कथा से स्पष्ट करते है कि एक मनुष्य ने एक तोते को पकड़ कर उसे पिंजड़े से कैद कर दिया । अब जैसा वह मनुष्य तोते से कहें तोता भी उसी की नक़ल करें । बहुत दिनों के बाद एक दिन तोते के मालिक ने सोचा चलों तोते को मेला दिखा लाए और वह पिजडे को कंधे से लटकाए मेला देखने शहर की और चल दिया थक जाने पर वह पिजडे को रखकर थोड़ी देर के लिये सो गया । इतने मे ही एक तपस्वी साधू आया तो तोते ने तपस्वि से कहा कि हे साधू ! मुझे इस कैद से छुड़ाने का उपाय बताओं । जब साधु तोते को बताने को हुआ तभी तोते के मालिक ने करवट ली और उठने लगा, इस पर तपस्वि कुछ कह तो नहीं सका परन्तु उसने धरती पर लेट कर मरने का स्वांग किया जिसे देखकर तोता ने भी मुक्ति का सूत्र ले लिया की पिंजरे की कैद से छूटने के लिए उसे भी मरने का स्वांग करना होगा । जब मालिक पिंजरा लेकर आगे बढा तो एक चीख मारकर तोता भी बदन को अकड़ाकर टांगे ऊपर किए पिंजरे में लेट गया । मालिक ने देखा तो उसने तोते को जगाने के लिये उसका नाम लिया उसे हिलाया परन्तु तोते

ने सभी शब्दों को अनसुना कर उसे अनादर किया जिससे मालिक ने समझा कि तोता मर गया है और वह तोते को पिंजरे से पिंजरे से बाहर रख कर उसको समाधि देने के लिए गड्डा खोदने लगा तभी मौका देखकर तोता उड़ गया ।

इस कथा का भावार्थ यही है कि जब तक हम माया जगत की सारी आसक्तियों, अतृप्तिओ, इच्छाओ, कामनाओं को अंतिम रूप से मार न दे हमारा उद्धार नहीं होगा । ओर आत्मजगत में हमारा पुनः जन्म संभव नहीं है । माया जगत की हर आसक्ति को तोते की भाँति अनसुना अनादर कर दे और आत्मा को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य बनाकर उस और बढ जाए । आत्मा को ही अपना सब कुछ मानो ।

【 98 】 "क्षत्रियत्वगतेश्योत्तरत्र चैतरथेन लिङ्गात् " ।

।। १.३.३५ ।।

क्षत्रियत्व गते: च उत्तरत्र चैत्र रथेन लिङ्गात्

गृहस्थ में ब्रह्मचर्य से आकर धर्मपूर्वक जीने के उपरांत पिंजड़े से छूट गए तोते की भाँति ही उत्तरोत्तर चैतन्य होकर वानप्रस्थ में शरीर को रथ, धारक रूप में जानते हुए आत्मलिङ्ग को धारण करें । आत्म निम्मित, आत्म यज्ञार्थ, आत्मसेर्वार्थ, आत्मलिङ्ग को तदरूप , तद्भाव अनुसरण करते हुए आत्म-योग को प्राप्त हो ।

इस सूत्र को भी पूर्व के सूत्रों के संदर्भ मैं हि देखना चाहिए दुर्भाग्य से इन सूत्रों को जातिवाद तथा भेदभाव, छुआ-छूत आदि के साथ जोड़ दिया है जो कि नितान्त गलत है । सनातन धर्म आत्मपरक धर्म है । जो "एको-ब्रह्म दृतियो नाऽस्ति" के सिद्धान्त को मानता है की एक ही ब्रह्म (आत्मा) सर्वत्र व्याप्त है इसीलिए प्राणी-मात्र में भेद

करना ईश्वर (आत्मा) का निरादर करना है समाझ को सुव्यवस्थित रखने के लिए जो वर्णव्यवस्था बनाई गई है वह कर्म के आधारित की गई थी न कि जन्म पर । कालांतर में इसके रूप में जो बदलाव आया वह संप्रदायों के निहित स्वार्थो के कारण हुआ धर्म का इस बदलाव से कोई सरोकार नहीं है ।

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार गृहस्थ धर्म ही क्षत्रिय धर्म है । यही वह समय होता है जब काम क्रोध आदि हमारे सामने साक्षात होते है । जिन्हें परास्त करते ही हम उत्तरोत्तर उत्थान को जाते हुए आत्म-जगत, आत्मलिंग में समाधिस्थ हो, यहीं जीवन का अभीष्ट है । गृहस्थ धर्म को आत्मा के निम्मित भाव मे ही धारण करना चाहिए ।

【 99 】 "संस्कारपरामर्शात्तदभावाभीलाषाच्च" ।

।। १.३.३६ ।।

संस्कार परामर्शात् तद भाव अभीलाषा: च

गुरुकुल में यज्ञोपवित संस्कार में यहीं अभिलाषा संकल्प तथा जीवन के अभीष्ट मार्ग की भावना से संस्कारित हुए थे यज्ञोपवित संस्कार के समय यहीं परामर्श दिया गया था कि तिन धागों का जनेऊ (यग्योपवित) तीन स्रुष्टि यज्ञ का प्रतीक है, जिन्हें जानकर इस देह में ही द्विज बनकर (अर्थात दूसरा जन्म लेकर) दिखाऊंगा । इसी संकल्प के कारण ही प्रत्येक बालक को गुरुकुल प्रवेश के साथ ही शुद्र (अज्ञान) को त्यागते हुए प्रथम द्विज अर्थात वैश्य घोषित किया जाता था ।

आदि काल से सनातन धर्म ने मनुष्य मात्र में भेद नहीं किया है । वर्ण व्यवस्था को भी सनातन धर्म ग्रंथों में जन्मना नहीं माना है । स्वयं

श्रीमद्भगवत गीता में भगवान श्री कृष्ण इसी व्यवस्था का प्रतिपादन करते हूए कहते है कि

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।। गीता ४.१३ ।।

हे अर्जुन ! चारों वर्णो की स्रुष्टि मेरे द्वारा गुण और कर्म के विभाग से हुई है । – यहाँ भी भगवान वर्ण व्यवस्था गुण – कर्म विभाग सा ही मानते है । जन्मना नही स्वीकारते । आगे चलकर गीता में भगवान पुनः इसी विषय को स्पष्ट करते है –

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। गीता ५.१८ ।।

हे अर्जुन ! विनययुक्त ब्राह्मणमे, चाण्डालमें गौ और हाथी में जो भी नहीं करता है वहीँ ज्ञानी है , धर्म को जानने वाला है ! गुण कर्म विभाग वर्ण व्यवस्था क्या है ? इसका उत्तर हमें अन्यत्र भी मिलता है ।

"जन्मना जायते शुद्रा, संस्कारात् द्विज उच्यते"

"वेदपाठे भवेत विप्रा, ब्रह्म जानाति ब्राह्मण"

हर व्यक्ति जन्म से शुद्र है संस्कार के द्वारा ही वह द्विज होता है ऐसा उपरोक्त श्लोक में कहा गया है । हम यदि धार्मिक और सामाजिक परम्परा में भी देखे तो हमें इसी परम्परा का निर्वाह सर्वत्र सर्वत्र मिलता है ।

ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य सभी परिवारो में जब कोई बालक जन्म लेता है तो बारह दिन तक सूतक अर्थात छूत वास करती है नाल काटने दाई भी हरिजन जाती की बुलाई जाती है, छठ्ठी पर्यन्त जच्चा और बच्चा को उसी दाई के हाथ का छुआ खिलाया जाता है । 12 दिन तक देवताओ के भी मंदिर बंध कर दिये जाते है ऐसा करने का कारण है कि जन्मना बालक सभी परिवारों में शुद्र माना जाता है । जब तक बालक का यग्योपवित संस्कार नहीं होता उसे ब्राह्मण के घर मे भी शुद्र ही माना जाता है यग्योपवित संस्कार से पूर्व बालक को वेदपाठ का अधिकार नहीं होता, वह मुर्ति भी स्पर्श नहीं कर सकता , पुरे कपडे पहनकर भी कच्चा अन्न ग्रहण कर सकता है ब्राह्मणोचित सभी नियम उस पर लागू नहीं होते वह शूद्र ही माना जाता है । इस प्रकार जन्म से प्रत्येक बालक को शुद्र मानने की परंपरा हमें धर्म द्वारा दि गयी व्यवस्थाओं में भी मिलती है ।इसका चलन आज भी सारे भारत में व्यापक रूप से होता है ।

वेद की मान्यता अनुसार बालक शुद्र नहीं है । कोई भी मनुष्य शुद्र नहीं है वह तो परमेश्वर की बनाई अनुपम कृति है, तब फिर बालक को शुद्ध क्यो कहा गया ? यदि बालक शुद्र नहीं है तो फिर क्या है ? धर्म ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया की "अज्ञान" ही शूद्र है । अज्ञान से लिप्त होने के कारण ही बालक शुद्र कहलाता है । जन्मता बालक अज्ञानी होने के कारण सर्वत्र शुद्र माना जाता है । इसी बालक की अगली अवस्था वैश्य होगी ।जन्म काल मे अज्ञान से लिप्त था तो शुद्र कहलाया । गुरुकुल में यग्योपवित संस्कार के उपरांत ज्ञानार्जन हेतु आया तो वैश्य हो गया । ज्ञान का अर्जन ही तो सत्य रूप में धनार्जन है । ज्ञान के द्वारा ही अर्थ धर्म काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होतिं है । इसीलिए ज्ञानर्जन करता बालक वैश्य कहलाता है ।

गुरूकुल से उपराम हुआ बालक जब विवाह हेतू विवाह मण्डप में आया, छत्र को धारण किया तो क्षत्रिय हो गया । गृहस्थ धर्म ही तो क्षत्रीय धर्म है । मायाओं के महासमर का महारथी है । यूँ जन्म काल का शूद्र, गुरुकुल मे वैश्य बना गृहस्थ हुआ तो क्षत्रिय कहलाया ।

गृहस्थ से ऊपर उठा तो आत्मवत जीने की इच्छा उसे वानप्रस्थ

धर्म में ले आयी । सब मे एक ब्रह्म है । मेरे पिता परमेश्वर घट घट वासी आत्मा होकर सम्पुर्ण सचराचर की सेवा मे लगा है । आत्मा होकर अभेद भाव से हर जीव की जूठन को रक्त में बदल रहा है । इच्छा रहित होकर आत्मा अर्थात ब्रह्म सचराचर की सेवा में लगा हुआ है । में भी अपने पिता ब्रह्म की राह चला । सचराचर ही मेरा परिवार है । "वसुधैव कुटुम्बकम्" आत्मवत जीना है मुझको । आत्मयज्ञार्थ आत्मसेवार्थ आत्मवत संसार को जानतें हुए आत्मा की भांति ही समर्पित जीवन होगा मेरा । ब्रह्म (आत्मा) ही मेरी राह है, ब्राह्मण हु में । इसप्रकार वानप्रस्थ धर्म में आते ही वह क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गया ।

इस प्रकार गुण कर्म विभाग की परम्परा हमें सद्ग्रन्थों में भी मिलती है तथा मान्य परंपरा में भी मिलती है । मान्य परम्पराओं में भी इसका ही व्यापक चलन देखने मे आता है

इसी धार्मिक मान्यता का स्पष्ट प्रमाण हमें महाभारत में भी मिलता है । पाण्डव वनवासी का जीवन जी रहे है कौरवों के षड्यंत्र के कारण उन्हें *12* वर्ष तक वनवास एवं एक वर्ष का अज्ञात वास बिताना है ।

वन में एक दिन ऋषि की अरणी को लेकर एक मृग भाग गया था । युधिष्ठिर ने भीम से अरणी लौटा लाने को कहा । भीम अरणी का पीछा करते हुए चले गए । बहुत समय बीत गया पर भीम न लौटे तो युधिष्ठिर भीम को खोजने वन में जाते है । तो अचनाक उनकी नजर बहुत बड़े अजगर पर पड़ती है, जिसने भीम को बुरी तरह जकड़ रखा था । युधिष्ठिर इस दृश्य को देखकर मन ही मन चौक उठते है वे मन ही मन जान जाते है कि यह कोई साधारण अजगर नहीं है । क्योकि भीम के शरीर मे हज़ार हाथीओं का बल है । कोई साधारण जीव भीम को परास्त ही नहीं कर सकता । अवश्य ही यह अजगर कोई यक्ष देव या किन्नर होगा । युधिष्ठिर उससे प्राथना करते है कि हे देव आप कौन है कृपया मेरे भाई भीम को छोङ दे, इसके बदले आप जो इच्छा करें में वही भोजन सामग्री आपके लिए उपलब्ध कराऊंगा ।

अजगर ने उत्तर दिया कि हे धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! में तुम्हारा ही पूर्वज राजा नहुष हु । ऋषि द्वारा अभिशप्त होकर इस अजगर योनि में आ

गया हूँ । यह मेरा दुर्भाग्य है कि अभिशप्त होने के कारण आज मुझे अपने ही प्रपोत्र को खाना पड़ेगा । मेरे द्वारा भीम का मरण तुम निश्चित जानो ।

युधिष्ठिर के प्राथना करने पर अज़गर बने नहुष कहते है कि हे युधिष्ठिर ! मेरे मन में तीन संदेह बाकी है । यदि तुम उन संदेहों का निवारण कर दो तो में शाप मुक्त हो जाऊँगा और अजगर योनि का परित्याग कर, मोक्ष को चला जाऊंगा । उसी अवस्था में भीम की जीवन रक्षा हो सकती है । इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि, हे देव ! आप अपने संदेहों को स्पष्ट करें में उसके निवारण का भरशक प्रयास करुंगा । युधिष्ठिर ने विनय पुर्वक कहा ।

तब नहुष ने पूछा कि क्या वर्ण व्यवस्था जन्मना है ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि वर्ण व्यवस्था कर्मणा है, गुण कर्म के विभाग से है । यह जन्मना कदापी नहीं हो सकती । धर्म पुत्र युधिष्ठिर अर्थात स्वयं धर्म ने उत्तर दिया ।

क्या शुद्र यज्ञोपवीत का अधिकारी है ? तथा वह भी ब्राह्मण हो सकता है क्या ? नहुष का दूसरा प्रश्न था ।

इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि हाँ शुद्र भी ब्राह्मण हो सकता है । अगर वह 12 वर्ष तक सरस्वती नदी अर्थात ज्ञानगंगा के तट पर तप करें तथा मनसा वाचा कर्मणा शुद्र वृत्तियों का परित्याग करता, यज्ञ की ज्वाला से पवित्र होता ब्राह्मणोंचित कर्म करने का अधिकारी है तथा यज्ञोपवीत का भी उसे अधिकार है । वह ब्राह्मण ही नहीं सन्यासी भी हो सकता है । ईश्वर की राह में भेद नहीं होता है ।

क्या ब्राह्मण शुद्र हो सकता है ? नहुष का तीसरा प्रश्न था । जिसके उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा कि ब्राह्मण वृत्तियों से त्यक्त हुआ ब्राह्मण तत्क्षण शुद्र हो जाता है ?

ब्राह्मण वृत्तियां क्या है ? नहुष ने पुनः जिज्ञासा की ।

सबमें एक ब्रह्म को देखना । आत्मा की भांति ही सचराचर में अभेद तत्व को सर्वोपरि मानकर सबमें आत्मवत व्यवहार करना ।

आत्मा की भांति ही आपरिग्रही होना । आत्मयज्ञार्थ, आत्मसेवार्थ, आत्मजीवन, तथा सम्पुर्ण सचराचर को आत्ममय जानना ही ब्राह्मण वृत्तियां है । युधिष्ठर का सहज उत्तर था ।

युधिष्ठिर के द्वारा शंका का समाधान होते ही शाप मुक्त हो गया नहुष । अज़गर योनि का परित्याग करके वह ज्योरिमय स्वरूप को धारण कर वह अनन्त को चला गया ।

इसी प्रकार के प्रमाण हमे सभी धर्मग्रंथों में सर्वत्र मिलते है । जिससे यह स्पष्ट है कि छुआ - छुत तथा भेदभाव धर्म सम्मत कदापि नहीं है ।

महाभारत में ही ऋषि उतंग की कथा आती है जिसने भेद-भाव के कारण अमृत गवाँ दिया था । भगवान श्री रामचंद्र ने शबरी के जूठे बेर खाएं थे । निषाद गुह का ऋषि वशिष्ठ के आश्रम (गुरुकुल) मे श्री राम का सहपाठी और अन्तरंग सखा होना पुनः इस बात को स्पष्ट करता है कि शिक्षा के अधिकार से किसी को वंचित नहीं गया था तथा भेदभाव कि कोई व्यवस्था समाझ में नहीं थी ।

संस्कृति में श्वपच शब्द का प्रयोग चाण्डाल के लिए प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है मूर्दे खाने वाला । महाभारत में श्वपच नामक ऋषि भी आए है जिनको महाभारत के नायक भगवान श्री कृष्ण ने अपने से ऊपर पुज्य तथा वंदनीय कहा है ।

होली का त्योहार भी इसका जीवंत प्रणाम है जहाँ भेद-भाव करनेवाला हिरण्यकश्यपु एक पतित राक्षस के रूप में दिखाया गया है । उसका बेटा प्रह्लाद जो अभेद भाव से सबके गले मिलता है, ईश्वर का प्यारा दिखाया गया है । होली आज भी उसी परम्परा का त्योहार है, जहाँ न कोई छोटा है न कोई बड़ा है, न कोई अमीर है और न कोई गरीब, सब पर रंग डालो, सबकों गले लगा लो । यदि धर्म में भेदभाव और छुतपात की भावना होती तो क्या ये त्योहार होते तथा सद्ग्रन्थो में ये कथाएं होती ?

सनातन धर्म एक सागर है जहाँ नाना संप्रदायों की नदियां आकर

उभरती है । असंख सम्प्रदाय भारत मे अपने अलग अलग अस्तित्व रखते हुए सनातन मे समाए हुए है । लगभग सभी साम्प्रादायों की सनातन धर्म मे रहते हुये भी अलग-अलग धारणाए तथा मान्यताएं रहीं है । कुछ सम्प्रदायों की देन जन्मना वर्ण व्यवस्था छुआ-छुत और भेदभाव रहा है तथा आज भी है । एक साम्प्रदायिक मान्यता के लिए सारे धर्म को दोषी करार देना एक बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण भ्रांतिपूर्ण ओर लज्जाजनक बात है ।

【 *100* 】 **"तद्भावनिर्धारणे च प्रवृत्ते:" ।। १.३.३७ ।।**

इसी भाव (यज्ञोपवित संस्कार) को जीवन पर्यन्त यथा धारण करें तथा जीवन को इसी प्रवृत्ति में रखें । शुद्र से गुरुकुल यज्ञोपवित संस्कार द्वारा प्रथम द्विज (वैश्य) उपरांत गृहस्थ (क्षत्रिय धर्म) तदुपरांत वानप्रस्थ (ब्राह्मण धर्म) तथा सन्यास को अर्पित हो ।

गुरूकुल के प्रवेश के समय ही यज्ञोपवित संस्कार द्वारा जन्म समय की अज्ञान की शुद्रत्व को त्यागकर द्विज घोषित हुए थे । द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म जिस प्रकार पक्षी आदि को द्विज कहते है । जिनका पहला जन्म अण्डे में होता है, उपरांत अण्डे से पक्षी रूप में, इसी प्रकार का द्विज संकल्प यज्ञोपवित संस्कार के समय दिलाया जाता है कि इसी शरीर मे तप और ज्ञान के द्वारा ब्रह्मरंद्र (ब्रह्माण्ड) से ज्योति बनकर नया जन्म लेकर दिखाऊंगा । इसी संकल्प के कारण बालक को द्विज घोषित किया जाता था तथा यज्ञोपवित के तीन तागे इसी संकल्प को सदा स्मरण कराने के लिए पहनाए जाते थे । तीन तागे स्रुष्टि यज्ञ के प्रतीक है, जिनसे हमे निरन्तर जीवन के क्षण प्राप्त हो रहें है । तथा यही यज्ञ की राह मुझे अनन्त जीवन प्रदान करेगी ।

संस्कारों को नियमपूर्वक धारणा करना तथा संस्कारों में निहित भाव को समझना तथा उसका अक्षरश: पालन करना और उन्हें आत्मा की प्रवृति में लाना ही संस्कारों का उदेश्य है ।

【 *101* 】 "श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात्सृतेश्च"।। १.३.३८ ।।

श्रवण, अध्ययन, अर्थ, प्रतिषेधात, स्मृते, च ।

मात्र श्रवण, अध्ययन करने से अर्थ सहित जान लेने मात्र से आवागमन से प्रतिषेध संभव नहीं है । उसे जीवन में अक्षरशः धारण करना ही स्मृतियों का मत है ।

तोते की तरह रटने से तथा अर्थ सहित जान लेने से मात्र से कुछ नही होता है । आवागमन से मुक्ति सम्भव नहीं है । भजन कीर्तन जप, तप मन को आंदोलित करने के साधन है कि हमारा मन एकांगी भाव से ईश्वर में लग जाये । हमें ज्ञान को अपने जीवन में व्यवहार में लाकर संपूर्णता से उसपर अर्पित होकर जीना होगा तभी मोक्ष सम्भव है । यहीं समस्त स्मृतियों का भी मत है ।

【 *102* 】 "कम्पनात्" ।। १.३.३९ ।।

जिसमें चेष्टा गति चलायमान होता सचराचर वह आत्मा ही है आत्मा ही लक्ष्य गति राह एवं गंतव्य है । जीवन की सम्पूर्ण कला आदि आत्मा के द्वारा ही है । आत्माद्वेत ही सच्चा मार्ग है ।

सम्पुर्ण चेष्टाएँ जागृति गति जो कुछ भी है आत्मा के द्वारा ही है । वह आत्मा भीतर है । उसी की दया से जीवन का हर क्षण है । आत्मा को ही जीवन मानना चाहिए । वाह्य सभी संबंध, नाते रिश्ते क्षणभंगुर होते है ।वह हमें जीवन का क्षण नहीं दे सकते है ।

वेद की ऋचा :

आ त्वां विशन्वाशव: सोमास इन्द्र गिर्वण ।

शन्ते सन्तु प्रचेतसे ।। ऋग्वेद १.५.७ ।।

आ = आकर

त्वां = तुममें

विशन्वाशव: = जब मृत प्रकृतिः में, जड़त्व में तुम प्रज्वलित होती हो तो जीवन का कंपन शुरू होता है ।

इन्द्र = हे ब्रह्मज्वाला !

सोमास = ज्योतियों के जल से

गिर्वण = जीवन के गुरुत्व को धारण करता है ।

शन्ते = मंगलमय शांति से

सन्तु = संयुक्त कर

प्रचेतसे = जीवन व्यापार को गतिमान (कम्पायमान) करती हो ।

हे इन्द्र ! हे यज्ञ की ज्वाला ! मौन मृत्यु को प्राप्त हो गई जड़ प्रकृतिः में जब तुम यज्ञ की ज्वाला बनकर प्रज्वलित होती हो तो, मृत्यु की ठण्डक खामोशी टूटने लगती है । जड़ प्रकृतिः में जीवन की धड़कन (कम्पन) आरम्भ हो उठता है । जीवन का कोलाहल होने लगता है ।प्राणों का व्यापार जीवंत हो उठता है । हे यज्ञ की ज्वाला ! जड़त्व और मृत प्रकृति में तुम ही जीवन हो । जीवन के गुरुत्व को धारण करने वाली, महाशक्ति हो । असत्य ओर अज्ञान में भटके हुए जीवन के अंधेरों का तुम निवारण करती हो, तुम्हीं जीवन ज्योति हो ! नेत्र का प्रकाश हो ।

【 103 】 "ज्योतिर्दर्शनात्" ।। १.३.४० ।।

ज्योतिः दर्शनात्

ज्योति से सचराचर प्रगट है । भस्मी मृत देह का विषाक्त त्याज्य जब भी आत्मज्योतियों में पेड़ो के गर्भ से यज्ञ होकर ज्योतियों में लौटता अन्नादिक रूप में दृश्य होता है । उसी प्रकार अन्नादिक भोजन के रूप में जीवो के शरीर मे आत्मयज्ञ मे ज्योतिओं मे परिणित होकर यथा संतति के दृश्य प्रगट जन्मते है । अतः आत्मज्योतिओं को प्राप्त होकर अनन्त अमर जन्म की कल्पना है । ज्योति से ही अमर अनन्त जन्म सम्भव है ।

स्रुष्टि यज्ञ की ज्योतियों मे सम्पुर्ण सचराचर प्रगट होता है । वह सृष्टि यज्ञ हम सब में व्याप्त है । तथा हमारा जीवन उसी की कृपा से है । इस जीवनदायी स्रुष्टि यज्ञ की उपेक्षा कर हम विषयान्ध जगत में लिप्त हो जाते है ।

जो कुछ भी दृश्य जगत है वह सब स्रुष्टि यज्ञ की ज्योतियों ने ही प्रगट किया है । आत्मज्योतियों के सन्मुख रहकर जीवन को ज्योतिर्मय बनाना चाहिए ।

वेद हमें जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान कराते है । यह हमें वाह्य जगत तथा अंतरात्मा में भेद को स्पष्ट कर उनका पूर्ण ज्ञान कराते है । जिस प्रकार वृक्ष का जो बाहरी स्वरूप फूल पत्ते शाखा फल तना आदि जो हमें दिखाई देते है यह वृक्ष का सम्पूर्ण सत्य नहीं है । वृक्ष का सत्य उसकी जड़े है जो अदृश्य रहती है। और वहीँ वृक्ष का आधार है । इसी प्रकार भीतर हम सब मे व्याप्त आत्मयज्ञ, स्रुष्टि यज्ञ की ज्योतियाँ जो स्थूल रूप से अदृश्य है परंतु वहीँ जीवन का आधार है ।

【 104】 "आकाशोऽर्यान्तरत्वादीव्यपदेशात" ।। १.३.५१।।

आकाश:, अर्थान्तरत्, आदि, व्यपदेशात

आकाश: – गगन का अर्थ नाना प्रकार से वेद स्मृति एवं अन्यत्र जो भी हुआ है, उसका तात्पर्य आत्मा ही है । आत्मा ही ब्रह्म है । आकाश एवं ज्योति है । उसे ही आत्मयज्ञ कि संज्ञा प्राप्त है । ऐसा ही उपदेश व्यापक रूप से सर्वत्र हुआ है ।

आकाश अन्तरिक्ष – (अन्त: + ईश) जो हमारे इस देह में क्षीरसागर बनकर रहता है वहीँ आत्मा है । तथा हम सबका आराध्य है । प्राणवायु को आत्मा में बसाकर आत्मा के शरण हो जाना ही योग एवं भक्ति है । मात्र आसन आदि सिद्ध कर लेने से कोई योग नही होता है । ब्रह्म, आकाश, आत्मा आदि शब्दो के जो भेद दिखाई देते है, वास्तव मे ऐसा नहीं है । आकाश ही माया (गुरुत्वाकर्षण) रहित क्षेत्र आत्मा है ।

【 105 】 "सुसुप्त्युत्क्रान्त्योंभेदेन" ।। १.३.४२ ।।

सुसुप्त, युत, क्रात्यो:, भेदेन ।।

निद्रा में निर्मग्न जीव स्वप्न आदि में भ्रमण चेष्टा एवं दृश्यावलीयों का अवलोकन करता अपने भीतर अंतरिक्ष में विचरता है, उसी प्रकार वाह्य निम्मित जगत स्वप्न सदृश है । "स्व" जगत ही नित्य मूल जगत है, जो जन्म जन्म नहीं बदलता है । वाह्य भौतिक जगत स्वप्न की भाँति सदा बदलता रहता है ।

जीवन की पूर्णता "आत्मा" (गोविंद) से जुड़कर योग करने से ही होती है । सम्पुर्ण वाह्य जगत स्वप्न की भांति है । यह सत्य नहीं है । जो स्वयं को नहीं जानते, अपनी वस्तुस्थिति का भान कर जीवन नहीं जीते है वह नष्ट हो जाते है । जब तक हम अन्तर्मुखी नहीं होते है तब तक हम स्वप्न में ही जीने लगते है ।

【 *106* 】 "पत्यादिशब्देभ्यः" ।। १.३.४३ ।।

पत्य = पति आदि परम आदि शब्दो से भी इसी भाव को ग्रहण करना चाहिए । इन्हें अलग संज्ञा नहीं मानकर, पद तथा विश्लेषण के रुप मे ही ग्रहण करना ही सत्य है । आत्मा यज्ञ तथा ईश्वर सज्ञां रूप है । परम + आत्मा परमात्मा अथवा परम + ईश्वर परमेश्वर तथा त्रिलोकपति और घट घट में वास करने वाले आत्मा के ही विशेषण विभूति तथा सम्मानार्थ पद है ।

पति आदि शब्दो से संज्ञा का भाव नहीं लेना चाहिए यह विशेषण है जैसे आत्मा में परम लगाने से परमात्मा हुआ । आत्मा ही सम्पुर्ण सचराचर का अधिपति है, इसमें संदेह नहीं करना चाहिए ।

पति आदि जगत से अध्यात्म जगत में कोई भेद नहीं होता है । ब्रह्मा विष्णु महेश आत्मा के ही तीन नाम है । क्षीरसागर भी हमारे भीतर है । हम सब प्रभु की अनुपम सुंदर कृति है । धर्म ईश्वर को घट घट वासी मानता है । ईश्वर हमारा योग-क्षेम तभी वहन करेंगे जब हम पूर्ण समर्पण के साथ ईश्वर की राह में चलते है । जिन्होंने शरीर इंद्रियों को भक्ती की राह पर नहीं लगाया वे कभी भी भक्ति को नहीं पा सकते है । वेद आदि ग्रन्थ हमें लक्ष्य परक जीवन जीने की राह दिखाते है, इनसे हटकर जीना दिग्भ्रमित होकर जीना है ।

इति श्री ब्रह्मसूत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय तृतीय पाद ।

गोविंद हरि

नारायण हरि

हरि ॐ नारायण

परम पूज्य वेदमूर्ति गुरुदेव स्वामी सनातन श्री महाराज का दिव्य सद्ग्रन्थ

"हरि ॐ नारायण हरि"

"ब्रह्म-सूत्र"

(श्री सनातन भाष्य)

प्रथमाध्याये - चतुर्थ पादः

【 107 】 "अनुमानिकम्पप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयती च" ।। १.४.१ ।।

अनुमानिकम् = अनुमान करना

अप्य (अपि) = इस भाँति

एकेषाम् = रथ का अर्थ केवल एकलौता मृत भौतिक वाहन (गाड़ी) है ।

चेन्न = ऐसा कदाचित नहीं है ।

शरीर = शरीर को ।

रूपक = प्रतिरुप, प्रतिबिंब के रूप मे ।

विन्यस्त = हर और सभी श्रुतियों स्मृतियों तथा भाष्य ग्रन्थों में विस्तार से ।

गृहिते: = ग्रहण किया गया है ।

दर्शयति = दर्शन आदि के रूपक में भी शरीर की उपमा रथ के रूप में है। यथा – दश (दस) इंद्रियों का निग्रह करनेवाला मन दशरथ तथा तन अवध है । दश (दस) इंद्रियों को मुह बनाकर सर्वत्र भटकता मन दशानन रावण है तथा तन लंका है ।

ब्रह्म सूत्र धर्म कि सीमा बांधते है । यह अनुमान करना की रथ का मतलब मात्र गाड़ी है ऐसा सत्य नहीं है । शरीर का रथ के रूपक में सभी ग्रंथो वेदों स्मृतियों में शरीर को रथ के रुप मे स्थापित, ग्रहण किया गया है ।सर्वत्र लिलाओ में भी शरीर को रथ के रूप में दिखाया गया है । भगवद्गीता में भी यहीं दर्शाया गया है कि शरीर रथ है, जीवात्मा (अर्जुन) रथी है तथा आत्मा (श्री कृष्ण) सारथी है ।

【 108 】 "सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्" ।। १.४.२ ।।

सूक्ष्मम् = सूक्ष्माति सूक्ष्म (आत्मा) में

तु = यूं ऐसे

तत् = मृत्यु से रहित

अहत्वात् = होकर

आत्म मिलन ही योग है । कारण शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर भी रथ के समान है । स्थूल शरीर के मृत होने के उपरांत भी सुक्ष्म शरीर नित्यावस्था को प्राप्त होकर जीवात्मा को अन्य योनियों में सक्षम होकर ले जाता है ।

रथ में रथ है । स्थूल शरीर के भीतर भी सूक्ष्म रथ है सूक्ष्म शरीर के रूप में जिसमें जीव जीवात्मा प्राणवायु तीनों इस शरीर मे एक साथ बैठे है, ब्रह्मरन्द्र रूपी नींङ (घोंसले) में । शरीर का प्रथम कोष (सैल) ब्रह्मरन्ध्र में ही बनता है । यहीं इस शरीर का डी.एन.ए भी है तथा सम्पुर्ण शरीर एक इकाई के रूप में भी कार्य करता है ।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के भेद को हम इस उदाहरण से भी समझ सकते है जैसे सागर में एक बड़ा जलपौत खड़ा है । तथा उसी पौत में एक वायुयान भी खड़ा है जो इस स्थुल शरीर रूपी रथ (जहाज़) में सूक्ष्म आत्मा रूपी यान (देवयान) है । जब बड़ा जहाज़ जल में डुबने लगता है तो जहाज मे सवार यात्री (रथी, जीवात्मा) इस यान में सवार होकर उड़ जाता है ।इस प्रकार इस सुक्ष्म शरीर रूपी यान (रथ) से जीवात्मा अगली योनियों में गमन करता है ।

【 *109* 】 "तदधीनत्वादर्थवत" ।। १.४.३ ।।

तत् = ऐसे आत्मयज्ञ ईश्वर के अधीन

अधीन: = तथा

वा: - अर्थवत् = उन्हीं संदर्भों में जगत नियन्ता सृष्टा आदि संज्ञायें आत्मा को प्रदान की गई है । इनसे भेद का भाव नहीं ग्रहण करना चाहिए तथा सांख्यादी दर्शनों की शाब्दिक परिभाषाओं से भ्रमित हुए बिना अंतर्भाव को ग्रहण करना चाहिए जो आत्मा ही है ।

धर्म का आधार आत्मा ही है, जैसे वृक्ष का मूल उसकी जड़ें होती है । जड़ को चैतन्य करने वाला यज्ञ आत्मा ही है, वही इस शरीर रूपी रथ को बारम्बार प्रगट करता है । तथा हमकों आत्मज्योतियों से वरद

कर हमें धारण करता है । विषय-वासनाओं के सुख क्षणिक होते है, अनन्त सुख आत्मा में ही है । हम अपनी मनोवृत्तियों के कारण स्वयं को दिन हीन मानने लगते है अन्यथा जिसे स्वयं ईश्वर बनाता है वह दिन (छोटा) कैसे हो सकता है ?

【 110 】 "ज्ञेयत्वावचनाच्च" ।। १.४.४ ।।

ज्ञेय = ग्रहण करने योग्य

अत्व = ऐसे

अवचन = वचन से ही है

च = तथा

ऐसा कहना (सांख्य का उद्धरण करके) की प्रकृति ही जगति का कारण है । तथा उसके द्वारा ही सचराचर प्रगट होता है, ऐसा सांख्य दर्शन का मत कदापी नही है । प्रकृति मात्र कारण है । जब की कर्ता यज्ञ है ।

यह ज्ञात करना अर्थात कहना कि जो कुछ कहा गया है वह असत्य है ऐसा वचन सत्य नहीं है कि सांख्य के अनुसार प्रकृतिः ही संसार की उत्पत्ति का कारण है । कारण के उपरांत ही कर्ता होता है । सृुष्टि का कारण प्रकृति है लेकीन कर्ता आत्म-यज्ञ आत्मा ही है । सांख्य दर्शन में जो कुछ कहा गया है उसे समझने में भ्रम है ।

【 111 】 "वदतीति चेन्नः प्राज्ञो हि प्रकरणात्" ।

।। १.४.५ ।।

वदत = कहना, बोलना, कथन ।

इति = ऐसा ।

च = तथा ।

ऐन = इति प्रकार, इस भांति ।

प्राज्ञो = प्रज्ञा, आत्मज्ञान, ब्रह्म अध्यात्म ।

ही = आदि सभी ।

प्रकरणात् = प्रकरणों से भी

आत्म-यज्ञ, आत्मा, ईश्वर ब्रह्म, को ही सचराचर का उत्पत्ती दाता परमेश्वर एवं कर्ता बताया गया है । घट घर मे (देहमात्र में) स्रुष्टि उत्पत्ती के कारण सृष्टा कहा गया है अन्यत्र लोकों में वास करने की कल्पना साम्प्रदायिक, सामुहिक सोच भर है ।

जो कुछ कहा गया है वह आत्मा से जुड़कर जीने के लिए ही कहा गया है । आत्मा कौन है ? इसका उत्तर है कि आत्मा सृष्टा है । तथा स्रुष्टि में हर रूप मे व्याप्त है । उसे किसी स्थान विशेष या लोक जैसे सप्तलोक या सातवें आसमान तक सीमित नहीं किया जा सकता है । जब सृष्टा स्रुष्टि मे व्याप्त हो जाता है तो वह भी आत्मन (आत्मा) कहलाता है । एक ही सत्य को नाना प्रकार से बताया गया है (एकं सदविप्रा बहुधा वदन्ति)

【 112 】 "त्रयाणामेव चैव मुपन्यास प्रश्नश्च" ।। १.४.६।।

त्रयाणाम् = तीनो, ब्रह्मा, विष्णु और महेश (अ + उ + म = ॐ) धारण सर्जुन और संहार के प्रतीक ।

ऐव = इस प्रकार इस भांति ।

ऐवम् = इस प्रकार ।

उपन्यास: (उप + न्यास:) = अभिव्यक्ति, सम्पादित, प्रकाशित शुशोभित हुआ है । सभी प्रकार के ग्रंथों में कथाओं में घट घट वासी आत्मा श्री हरि के रूप में ।

च = तथा

प्रश्न = इसमें संदेह कैसा ।

वह जो तीनों की चर्चा करते है (अ + उ + म = ॐ) अर्थात ब्रह्मा-सरस्वती , विष्णु - लक्ष्मी, महेश - आदि शक्ति दुर्गा । सृष्टि उत्पत्ति के यज्ञ के तीनों ही अधिष्ठाता देवता है । इन्हीं को ॐ रूप में बीज रूप में रखा गया है । जो कथाओं, लीलाओं में सर्वत्र स्थापित हुआ है । उस आत्मा घट घट वासी को सृष्टि का मूल मानो । श्रीमद्भगवत गीता में श्री कृष्ण ने भी यहीं कहा है कि सम्पुर्ण क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ में आत्मा ही हूं । आसमानों, अपने से अलग भटकने की मात्र कल्पना हो सकती है परंतु यह धर्म का विज्ञान नहीं हो सकता है । ईश्वर को किसी एक स्थान अथवा लोक तक सीमित नहीं रखा जा सकता ।

वह आत्मा, देवत्व देवाधिदेव जो हमें बारम्बार जन्मने वाला है । जिसके कारण ही हमारा निरंतर उत्थान है। जिसकी शोभाओं से समस्त लोक जगमगाते है, ऐसे श्री हरि का स्मरण करें उसकी शरण हो । ऐसे

आत्मयज्ञ का आवाहन करें । जिस प्रकार सूर्य धरती से दुर्गंध पापों को नष्ट कर, सभी बाधाओं को तोड़कर जीवन देता है । इस प्रकार जो इस आत्मयज्ञ में स्वयं को भस्म करता है उसी का उद्धार होता है । जो डुबा नहीं उसने मोती भी नहीं पाया ।

【 113 】 "महद्वच्च" ।। १.४.७ ।।

महद् (महत्) वच:

महद् = महदयश , परमेश्वर

महत् = महान

वच: = सूर्य, घट घट वासी आत्मा ही महान सूर्य सृष्टा, स्रुष्टिकर्ता एवं परमात्मा का स्वरूप है ।

देह रूपी वैकुण्ठ में वैकुण्ठनाथ आत्मा है । आत्मयज्ञ से अद्वेत (योग) करें ।

महदयशा महान यशस्वी सूर्य आत्मा (ईश्वर) देवाधिदेव ही सचराचर के स्वामी है । आत्मा से जुड़कर ही महान बना जा सकता है । संसार मे अपनी महानता स्वयं गाने वाले दंभी है । सृष्टा (आत्मा) हमारे भीतर है । और हम निर्धनता से जीते है । यह हमारा दुर्भाग्य है ।

बौद्धिक स्तर पर समृद्ध जीवन तभी जीया जा सकता है जब हम जीवन के सत्य को जान कर जीते है । जीवन एक यात्रा है, योनि मात्र ठहराव है । समय के अन्तरालों में गुलामी की दासता से हमारी सोच में परिवर्तन आ गया है । और हम अपने ही धर्म-ग्रंथों के सही अर्थ समझने में असमर्थ है । अतीत सदा वर्तमान को नष्ट कर देता है । भौतिक उपलब्धी में भले ही आगे बढ गए हो परंतु मानसिक स्तर पर

बहुत नीचे गिर गए है । जो स्वयं अपनी ही महान आत्मा का आदर नहीं करता वह भला दुसरो का आदर कैसे कर सकता है । ईश्वर की भक्ति का अर्थ पूर्ण अर्पण समर्पण है । मात्र भजने से कोई भक्ति नहीं होती है । प्रभु कहते है जो मुझे जीव भाव मात्र मे भजता है, मुझे देखता है वहीं ईश्वर का अतिशय प्रिय है ।

【 *114* 】 "चमसवदविशेषात्" ।। १.४.८ ।।।

चमसवत् अविशेषात्

चमस = पात्र शरीर स्रुवा अथवा पात्र भैतिक यंत्र पात्र अथवा शरीर का *(* अविशेषात् *)* उत्पत्ति सृष्टि में विशेष प्रभाव नहीं है । जैसे कि भोजन के स्वाद समृद्धि पर बर्तन, पात्र अथवा चमश का विशेष प्रभाव नही होता है साँख्य में आये शब्द "अजः" अज अथवा अजा का अर्थ अमरकोश, निरुक्त आदि सभी ग्रंथों में ब्रह्म को ही ग्रहण किया गया है। "अज" का अर्थ अजन्मा अमर नित्य ही है । शरीर अथवा प्रकृति की उपमा इससे कदापि नहीं हो सकती है ।

चमस कहते है चमड़े की मशक को ।शरीर भी चमड़े की मशक ही है । सिर्फ चमस अर्थात शरीर और भौतिकताओं को ही विशेष महत्व देकर जीना अज्ञान है । पात्र, बतर्न कैसा भी हो उसका भोजन *(* खीर *)* पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता है ।इसी प्रकार शरीर और इससे जुड़ा संसार कोई विशेष महत्व नहीं रखता है । महत्व मात्र आत्मा का ही है । अज्ञानीजन शरीर को ही सबकुछ मानते है । और ज्ञानीजन आत्मा से जुड़कर जीते है । सतही अवस्था तक सिमित रहने पर सारे तप व्यर्थ हो जाते है ।

सांख्य योग में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया की प्रकृति ही सृष्टि का नियम है । प्रकृतिः, स्रुष्टि की उत्पत्ती का कारण है, कर्ता मात्र आत्मा है । आत्मा से ही जीवन है । मनुष्य योनि में भी अगर जीवन के लक्ष्य आत्मा से जुड़कर नहीं जीया तो जीवन व्यर्थ है ।

【 115 】 "ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधियत एके" ।

।। १.४.९ ।।।

ज्योतिरुपक्रमा = ज्योतिरूप आत्मयज्ञ में

तु तथा = व्याप्त तथा ह्रदय में

ह्यधियत = आत्मा के अधीन होकर

एक = एक हो जाए अद्वेत अर्थात योगस्थ व्याप्त हो ।

आत्मा को ही ज्योतिरुप में दर्शाया गया है । सम्पुर्ण प्रकृति इसी से प्रगट जीवन्त होती है । ज्योति और रूप के क्रम में भी तथा जीवन को जीवन को धारण करने के भाव मे भी आत्मा को ही जीवन का मूल माना है । सृष्टि का कर्ता आत्मा ही है । किसी भी ज्ञान - विज्ञान में कोई भेद नहीं है ।

हम सदैव आत्मा विराट के साथ रहते है । आत्मा ही हमें धारण किये हुए है । तथा जीवन का प्रत्येक क्षण दे रहा है । आत्मयज्ञ जो सूर्य के समान ज्योतिर्मय है । वह हमारे अंदर नित्य प्रज्वलित है तथा एक

सूर्य जो बाहर है इन दोनो मे व्याप्त होकर स्थिर हो जायें । यह दोनों सुर्य (यज्ञ) एक ही है । जैसे शीशा (आईना) बाहर का जगत है । उसमें जो दिखाई देता है वह सत्य मान लेना अज्ञान है । जीव मात्र का यहीं कर्तव्य है कि धर्म की ध्वजा बनकर आत्मा (नारायण) से योग करके ऊपर उठे नीला आकाश में । हमें आत्मा मे ही तृप्त होकर जीना चाहिए ।

【 *116* 】 "कल्पनोपदेशाच्च मध्यादिवदविरोधः" ।

।। १.४.१० ।।।

अनुभव, कल्पना, उपदेश आदि इत्यादि में भी आत्मा (आत्मयज्ञ) ही सृष्टि का मूल है । माधवाचार्य आदि के कथन भी भिन्न है तथा न ही कोई विरोध (अविरोधः) है ।

यह कल्पना करना अथवा उपदेश देना माधवाचार्य आदि द्वेतमार्गी कोई अलग मार्ग बता रहें है ऐसा सत्य नहीं है । पूर्व श्लोकों में भी स्पष्ट कर दिया है प्रकृति उत्पत्ती का कारण मात्र है, कर्ता मात्र परमेश्वर आत्मा ही है ।

ईश्वर आत्मा को जीव से अलग बताना या उन्हें सप्तलोक आदि तक ही सीमित बताना असम्भव है । सृष्टा के बिना सृष्टि सम्भव ही निहि है । प्रकृतिः के नियम ही धर्म के सिद्धांत होते है । जो प्रकृति में घटित न हो, वह धर्म नहीं है । कल्पना कर लेने मात्र से वह धर्म के नियम नहीं हो सकते है । धर्म की मान्यता है कि जो प्राणीमात्र में अनिवार्य रूप से अभेद है वहीं धर्म है ।

【 117 】 "न संख्योपसंग्रादपि नानाभावादतिरेकाच्च" ।

।। १.४.११ ।।।

न संख्यं (सांख्य), उप, संग्रहात्, अपि, नाना , भावात् , अतिरेकाच्च ।

न कोई संख्या, न ही सांख्य में व्याप्त, संग्रहित भी तथा नाना ग्रंथो भाष्य आदि में इस विषय को अतिरंजित किया गया है । आत्म-यज्ञ ही सृष्टि का कर्ता है न की प्राण मन अथवा पांच इंद्रियां । शरीर भी निम्मित मात्र है । कर्ता आत्मा ही है ।

जैसा कि पूर्व सूत्रों में स्पष्ट किया गया है कि न तो सांख्य आदि में और न ही नाना सम्प्रदायो आदि में जो कुछ कहा गया है जैसे द्वेत धर्म, सप्तलोक अथवा सप्त आकाश कि जो भी कल्पना अथवा उपदेश दिया गया है उसका कोई अर्थ नहीं है । जो सचराचर का स्वामी है उसे किसी स्थान अथवा सप्तलोक तक कैसे सिमित किया जा सकता है, इन बातो का कोई महत्व नहीं ।

वेद की ऋचा :-

"अष्टो व्यख्यत्यकुभ: पृथ्वीव्यास्त्री धन्य योजना सप्त सिंधुन" ।

"हिरण्याक्ष: सविता देव आगाद्धथद्रत्ना दाशुषे वार्यार्णी" ।।

ऋग्वेद । प्रथम मण्डल । ऋषि - हिरण्य स्तूप अंगिरस । सुक्त - ५ ऋचा - १ ।

अष्टो = आठो प्रहर, आठो दिशाओं को

व्यख्यत = स्पष्ट और प्रकाशित करने वाले

ककुभः = क्रांति एवं सुरभि प्रदान करता

पृथ्वीव्यास्त्री (पृथ्वीव्याः + त्री) = पृथ्वी आकाश (स्वर्ग) और पाताल को

धन्व = कवच प्रदान करता, सुरक्षित करता (धन्व एक प्रकार के पात्र का नाम है जिसमे धनुषो को रखा जाता है)

योजना = व्यवस्था तथा उत्पत्ति से वरद करता

सप्त = सात

सिंधुन = ग्रहों को (जिस प्रकार) यहा स्पष्ट कर देना चाहिए कि वेदों में सप्त सिंधुन का तात्पर्य सूर्य परिवार के सात ग्रहों है न कि मात्र सात नदियों से

हिरण्याक्षः = दहकते सुनहरे नेत्रों वाला

सविता = सूर्य उसी प्रकार सहस्त्रों सूर्य को जन्मने वाला आत्मयज्ञ रूपी सूर्य मे

देव = देवत्व की प्राप्ति हेतु

आगाद्धथद्रत्ना (आगात् + दध + रत्ना) आकर यज्ञ को धारण करें एवं जीवन उपलब्धि सम्पुर्ण आत्मयज्ञ में अर्पित कर

दाशुषे = दहन, यज्ञ मे भस्म होकर

वायार्णि = देवत्व का वरण करें ।

भावार्थ = निशिदिन आठों पहर, आठों दिशाओ में उसकी ज्योति को ग्रहण करो, उसकी सुरभि सुगंध और क्रान्ति का सुख लो । काल (समय) कभी रुकता नहीं है, उम्र सदा बढतिं रहतीं है, आत्मा के बिना

जीवन का एक क्षण भी नहीं है । आत्मा अमर देवता को अपने जीवन मे धारण करो । जो जीवन की सारी उपलब्धि को देने वाला है, उसमें पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाओ । जो आत्मज्वालाओं में (दाशुषे) दहन, यज्ञ हो जाता है वही मोक्ष अमरत्व को प्राप्त होता है ।

【 118 】 "प्राणादयो वाक्यशेषात्" ।। १.४.१२ ।।।

प्राण आदि वाक्यों, सन्दभों से आत्मा अथवा उत्पत्ति के भाव को कदापि ग्रहण नहीं किया गया है । आत्मा के हटते ही प्राण भी शेष (शेषात्) हो जाते है । मन, इंद्रिया, प्राण आदी सब आत्मा के ही अधीन है । आत्मा, आत्मयज्ञ ही उत्पत्ति कर्ता, ईश्वर, परमेश्वर आदि नामों से प्रशंसित होता है ।

प्राण आदि भी आत्मा के हटते ही शेष हो जाते है इसी कारण हम प्राण को उत्पत्ति का मूल नहीं मान सकते । आत्मा के हटते ही भौतिक जीवन शेष हो जाता है ।

【 119 】 "ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने" ।। १.४.१३ ।।।

ज्योतिष = ज्योति, आत्मकुण्ड के

अकेशाम = इस एक अकेले सत्य

सत्य: एन: = को ही आत्मा, यज्ञ सृष्टा के रूप मे सर्वत्र ग्रहण किया गया है । गणना अथवा गणित का कोई अन्य विधान भ्रान्ति मात्र

ही हो सकता है । उसे

न = उसे नकारा ही गया है ।

ज्योतिर्मय सचराचर जगत में आत्मज्योति ही एकमात्र सत्य है । यह भी सत्य है कि हम पांच तत्व से बने है, परन्तु यह भी सत्य है कि सारे तत्त्व ईश्वर (आत्मा) ही बनाता है । आत्म-यज्ञ कि ज्योतियाँ ही सारे जगत मे व्याप्त है । यह सत्य हमारे भीतर है । एक ही सत्य की अनेक वास्तविकता, व्याख्या हो सकती है । *(Trust is one explanation may be plenty)* जो हमारे भीतर आत्मा होकर बैठा है, वही सत्य है । (सत्यमेव जयते) सत्य का कभी नाश नहीं होता है और असत्य कभी नहीं रहता है । तत्त्व कभी नष्ट नहीं होता है । ब्रह्म (अणु) की आयु असीमित है । अनन्त के टेढ़े मेढ़े रास्तों पर जो जीव को राह दिखाता है, हमारी सदैव रक्षा करता है, ओर हमारा उद्धार करता है वह आत्मा हमारे भीतर है । इस सत्य को जानकर हमें आत्मा के प्रति पूर्ण समर्पित होकर जीना चाहिए । यहा एक चेष्टा है आत्मा से योग के बिना भक्ति भी सम्भव नहीं है तथा प्रभु कृपा भक्ति के बिना सम्भव नहीं है । यदि मन से कपट, लोभ, लिप्सा आदि नहीं गए तो कोई भक्ति नहीं हुई है ।

【 *120* 】 "कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः" ।

।। १.४.१४ ।।।

अन्वेन = अन्य

कारण = कारण

च = तथा

आकाश = अंतरिक्ष

आदिषु = आदि इत्यादि का । उक्तिः ,

यथा = यथा , उसी प्रकार से

व्यपदिष्टोक्तेः (व्यदिष्ट + उक्तिः) = व्यापक रूप से उपदेश सर्वत्र उक्तियों में हुआ है ।

आत्मा, आत्मयज्ञ ईश्वर परमेश्वर आदि घट घट वासी आत्मा के ही नाम है । ऐसा श्रीमद्भगवत गीता में भी तथा सभी ग्रंथों में कहा गया है । इसी प्रकार से तथा आकाशादि के क्रमो मे भी इसी बात को बारम्बार व्यापक रूप से ग्रंथों, उक्तियों में कहा गया है की आत्मा ही ईश्वर परमात्मा है । आत्मा के ही आगे विशेषण परम लगाने से वह परमात्मा होता है । मेरे अंतर का अंतरिक्ष ही बाहर का आकाश है । धर्म जीवन, सृष्टि, उत्पत्ती का विज्ञान है ।

【 *121* 】 **"समाकर्षात्"** ।। १.४.१५ ।।

सम् + आकर्षात्

सम्यक भाव से आकृष्ट, जीवन्त होता सचराचर जिसमें वह आत्मयज्ञ ही है । आत्मा ही घट घट वासी यज्ञ परमेश्वर है ।

सभी श्रुतियों, वेद, ब्रह्म-सूत्र आदि नित्य-निरंतर प्रज्जवलीत् ब्रह्म-यज्ञ की ही बात करते है । वाह्य यज्ञ निम्मित (नैमितिक) है । अंतर का आत्मयज्ञ ही जीवन सृुष्टि की उत्पत्ति का यज्ञ है । धर्म का मत है कि जिसने अपने अंतरात्मा में पूर्णता नहीं पाई वह अधूरा है तथा वह कभी भी जीवन मे पूर्ण सूखी नहीं हो सकता है । हमें अपने आत्मा में ही जीवन की पूर्णता खोजनी चाहिए । ईश्वर आत्मा होकर भीतर

विराजता है । सारे लोक हमारे भीतर है (यत् पिण्डे, तत् ब्रह्माडे) आत्मा से जुड़ जाना ही मोक्ष है । सम्यक भाव से आत्मा का आकर्षण ही जीवन का आधार है । आत्मा के सत्य को नकारना नहीं चाहिए ।

【 122 】 "जगद्वाचित्वात्" ।। १.४.१६ ।।

जगत, वाचित्वात्

जगत आदि तथा सभी प्रकार से सचराचर को आत्मयज्ञ, आत्मा ही उत्पन्न करता है । उत्प्रति के सम्पूर्ण भाव एवं संदर्भ सर्वत्र इसी सत्य को उजागर करते है । "जड़" चेतन सचराचर को आत्मयज्ञ ही प्रगट, उत्पन्न जीवंत एवं धारण करता है । जगत (संसार) में जहॉ-जहॉ जो कुछ कहा गया है वह यहीं है कि आत्मा (आत्मयज्ञ) ही हम सब को उत्पन्न करता है ।

【 123 】 "जीव मुख्यप्राणलिङ्गान्नोति चेत्तद्वयाख्यातम्" । ।। १.४.१७ ।।

जीवात्मा ही मुख्य रूप से, प्राण प्रज्वलित, चिन्हित होना आत्मयज्ञ में, आत्मा के द्वारा इस भाँति अर्थात जीवन, जीवात्मा के द्वारा ही जाना जा सकता है । जीवात्मा ही जीवन का भोक्ता है, जिसको आत्मयज्ञ, आत्मा बनाता,जीवात्मा के हित में । इस भाँति ही यह भाव सभी श्रुतियों, स्मृतियों तथा नानाग्रंथो में व्याख्यायित हुआ है ।

जीवन क्या है इसकी व्याख्या में जीव की पहचान मुख्य रूप से प्राणों के द्वारा होती है । जीवन का आधार आत्मा ही है । क्योकि प्राणों का संचार भी शरीर में तभी तक है जब तक आत्मा इस शरीर मे विद्यमान रहता है । आत्मा और जीवात्मा का संबंध पिता-पुत्र का है । आत्मा पिता की यहीं इच्छा होति है कि उसका पुत्र जीवात्मा उसकी जैसी सामर्थ्य वं ऐश्वर्य को प्राप्त हो । इसके लिए जीवात्मा को पूर्ण रुप से शुद्ध व निर्मल होना पड़ता है, इसी के लिए समस्य तप एवं साधना का विधान है । वेद की ऋचा में भी यही भाव है ।

सः न पितेव सूनवेग्ने सुपायनों भव ।

सचस्वा न स्वस्तये ।। ऋग्वेद १.१.९ ।।।

एक पिता की भांति हे पिता परमेश्वर ! अपनी विभूतियों से हम पुत्रो को संयुक्त करो ! तुम्हारे पुत्र तुम्हारी शोभाओं से युक्त हो !!

सः न पितेव = जिस प्रकार पिता अपने पुत्रो को

सूनवे = अपनी ज्योतियों, वैभव शक्ति से संयुक्त करता है । उसी प्रकार हे जगतपिता आप पिता है हमारे ! हम सब आपके पुत्र है । पिता की ही भांति आप अपने पुत्रों को

सुपायनों = अपनी शोभाओं से, अपनी विभूतियों से सयुक्त होकर करें ।

भव = अपनी शोभाओं से संयुक्त होकर हम

सचस्वा = हम

न = सब

स्वस्तये = आत्मस्थ हो ! पिता की राह का अनुसरण करो ।

अग्ने: = हे अग्ने ! हे पिता ! हम पर ऐसी कृपा करे ।

पुत्र ही पिता का अनुसरण करता है । हे पिता आप ही आत्मा होकर सम्पुर्ण सचराचर को निष्काम भाव से उत्पन्न करते हो और उनमें जीवन का संचार करते है । हे पिता हमें अपने सौभाग्य से संयुक्त करें, पिता की सेवा का अवसर प्रदान करे । जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सेवा करता है उसी प्रकार हे पिता ! हम आपकी सेवा करें तथा आपके द्वारा प्रगट सचराचर के निष्काम समर्पित सेवक हो ।

【 *124* 】 "आचार्य तु जैमिनि: प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके" ।। १.४.१८ ।।

अन्य अर्थों में भी जैमिनि आदि सम्पुर्ण ऋषियों ने नाना उपनिषद (प्रश्नोपनिषद) आदि में इसी सत्य कि व्यापक व्याख्या की है ।

आत्मा ब्रह्म ही उत्पत्तिदाता है तथा प्राणवायु ही उसका दूत है एवं जीवात्मा के हित में उसकी अभिव्यक्ति है । इसी प्रकार आत्मा यज्ञ का आचार्य अधिष्ठीत देव है । तथा प्राणवायु अच्छावाक है । तन रूपी सामग्री ब्रह्म-ज्वाला ही यज्ञाग्नि तथा जीवात्मा ही यजमान है ।

ज्ञान तभी मोक्षदायक होता है जब वह हमारे जीवन का अंग बने, जिस प्रकार अगर आकाश में बादल छाये रहे परंतु बरशे नहीं तो वह फ़सल को हानी पहुचाते है । इसलिए वह ज्ञान जो केवल बुद्धि में तो भरा रहे परंतु जीवन मे, स्वभाव में न उतरे तो वह केवल दम्भ पैदा करता है और विनाश करता है, रावण भी ज्ञानी था, परंतु दम्भ के कारण उसका विनाश हुआ ।

किसी भी संदर्भ में सभी ग्रन्थों में सभी जगह आत्मा के सत्य को प्रतिपादित करने के लिए जो भी व्याख्या की गई है उसका अर्थ यहीं है कि आत्मा से जुड़कर योग करके ही जीवन मृत्यु के आवागमन से मुक्ति सम्भव है । प्रकृति कारण है कर्ता मात्र आत्मा है ।।

【 *125* 】 "वाक्यान्वयात्" ।। १.४.१९ ।।

वाक्य,अन्वयात्

जो भी कहा गया है उसका प्रत्येक वाक्य, शब्द अर्थ इतना ही है कि आत्मा ही ईश्वर है और परम् विशेषण से युक्त होने से परमेश्वर कहाता है । आत्मा ही सनातन सृष्टा है । आत्मधर्म का दूसरा संबोधन सनातन धर्म है । जीव यजमान है तथा प्राणवायु ही यज्ञ का उपाचार्य है, सचराचर यथा सामग्री है । यहीं सृष्टि के उत्पत्ति के मूल यज्ञ का तत्व है । इसी सत्य को सर्वत्र नाना प्रकार से अन्वय, समन्वय सहित कहा गया है ।

आत्मा के साथ योग करना ही जीवन में उतीर्ण होकर अन्नंत की राह पर जाना है । वेदादिक ग्रन्थों को स्पष्ट करने के लिए ही लीला कथाओं की रचना की गई है । जिस प्रकार भगवान राम के साथ पवनपुत्र हनुमान है उसी प्रकार सृष्टि यज्ञ के अधिष्ठीत देव आत्मा है । और उसके साथ प्राणवायु है । यह नित्य अपरिवर्तनीय सत्य है जिसे ऋत कहते है ।

【 *126* 】 "प्रतिज्ञासिद्धैर्लिंगमाश्मरथ्थ:" ।। १.४.२० ।।

प्रतिज्ञा सिद्धै: लिंगँन आश्मरथ्थ:

संकल्प, प्रगट करना, ज्ञात होना सब कुछ आत्मा में ही स्पष्ट सिद्ध है । प्राण, जीव, जीवन आदि कि पहचान ब्रह्म अर्थात आत्मा ही है । *(* अश्म = पत्थर तथा आश्म-पत्थर तथा मिट्टी द्वारा निर्मित शरीर अथवा मुर्ति कि *) (* लिंग *)* पहचान भी ब्रह्म *(* आत्मा *)* ही है । ब्रह्म अर्थात आत्मा ही घट घट वासी स्रुष्टिकर्ता है ।

स्रुष्टि कर्ता आत्मा ही है तथा तथा कारण स्वरूप जीव प्राण एवं प्रकृतिः है ऐसा ऋषि आष्मरथ ने भी माना है ।

आष्मरथ ऋषि को मूर्तिपूजा का जनक कहा जाता है । और यह वैदिक कालीन ऋषि है । इसीलिए यह कहना कि वेदों मे मूर्ति पूजा का खंडन है, सरासर गलत बात है । आत्मा से मिलने का माध्यम मूर्ती पूजा ही है । नेति नेति का अर्थ है न इति-न इति अर्थात इतना ही नहीं-2 । ब्रह्म आत्मा की इति *(*अन्त*)* नहीं है ।

उसे किसी एक रूप या स्थान तक सीमित नहीं किया जा सकता । सारा ब्रह्माण्ड ओर सारे रूप उसी के है, फ़िर यह कहना कि ईश्वर सप्तलोक में ही वास करता है यह ठीक नहीं । मूर्ती पूजा को ढोंग बताने वालों के लिए यह सूफ़ी कथन है:-

"गर वो बुत परस्त न हुआ होता,

तो कायनात तमाम बुतों से क्योंकर भर गया होता ।

मत कहो की बुतपरस्ती गुनाह है,

नाम-ए-अवल्ल उसी का आएगा ।।"

हम सबकी (लिङ्ग) अर्थात पहचान ब्रह्म अर्थात आत्मा से ही है । यह स्पष्ट सिद्ध है । प्रतिज्ञा (प्रति+ज्ञा) ज्ञान के प्रति जो हमारा संकल्प है वह भी आत्मा से ही सिद्ध होता है । ओर आत्मा को ही पाने के लिए मुर्ति पूजा का विधान है, राह है ।

【 *127* 】 "उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौड्डूलोमिः " ।

।। १.४.२१ ।।

उत्क्रम, ईष्यत, एवं, भावात, इत्य, ओड्डूलोमिः ।

उत्तरोत्तर क्रम से भी यहीं क्रम प्रगट होता है एवं भावादिक क्रम से भी मात्र यहीं सत्य प्रगट है कि ब्रह्म ही जीवमात्र की पहचान है । ऐसा ओड्डूलोमि आचार्य भी मनाते है । औडू अर्थात हर और से "लोम" अर्थात बालों से ढका हुआ, एक ऋषि का नाम लोमश ऋषि, भालू आदि ।

जिन आत्म-ज्योतियों के यज्ञ से हमने यह मनुष्य रूप पाया है पुनः उत्तरोत्तर उत्थान के लिए, अमर देवत्व की प्राप्ति के लिए हमें पुनः पूर्ण निष्ठा के साथ समग्रीवत इस आत्मयज्ञ की ज्योतियों में स्वयं को यज्ञ करना होगा । इस प्रकार ऊपर उठते हुए क्रम से भी देखने पर हम यहीं पाते है की आत्मा ही हमारी सत्य पहचान है । वहीँ हमारा उत्पत्ति दाता है।

मनु से उत्पन्न होने के कारण हम मनुज (मनु के जाये) मनुष्य कहलाते है । मनु कहते है काल (समय) को मनु (काल) ओर सतरुपा (प्रकृति , वनस्पति) की हम सब संतान है। समय से हम सब मनुष्य रूप पाते है । तथा समय पूरा हो जाने पर यह शरीर त्यागकर चले जाते है, इसलिए समय रहते ही हमें आत्म-स्वरूप की पहचान कर उसमे स्थित होकर आवगमन से परे अमर जीवन को धारण करना चाहिए ।

【 128 】 "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः " ।। १.४.२२ ।।

अवस्थितेः, इति, काशकृत्स्नः

अवस्थित अर्थात सब में नित्य स्थित ब्रह्म आत्मा ही आकाशों को उत्पन्न, दृश्य करने वाला है । काश शब्द से आकाश, गगन, क्षीरसागर आदि कि कल्पना तथा व्युत्पत्ति अमरकोश एवं निरूक्त ने मानी है । काश अर्थात आकाश, प्रकाश, ज्योति तथा काशकृत्स्न का अर्थ है करने वाला अर्थात उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर, स्वामी आदि घट घट वासी ब्रह्म ही को काशकृत्स्न ऋषि ने भी माना है ।

सनातन धर्म आत्मा का धर्म है । तथा प्रकृति ही इसका मूल धर्मग्रन्थ है । इसकी मान्यता है कि सत्य अपौरुषेय होता है । किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा सत्य प्रतिपादित नहीं होता है ।प्रकृति से प्रमाणित होने पर ही सत्य को स्वीकारा जाता है ।

काषकृत्स्न ऋषि ने भी माना है कि परब्रह्म ईश्वर जो समस्त आकाश आदि को उत्पन्न करता है । तथा सबकुछ उसी ब्रह्म में ही अवस्थित है ऐसा परब्रह्म, आत्मा होकर हम सब में समाया हुआ है । बिना किसी भेद-भाव के ब्रह्म आत्मा होकर समभाव से समस्त सचराचर, जीवधारियों में स्थित है । अभेद ब्रह्म को भेद दृष्टि रखने वाले कभी ईश्वर को नही पाते है । उन्हें अनेक योनियों में भटकना पड़ता है ।

'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्ड़े', सम्पुर्ण सचराचर के सूक्ष्म चित्र के भांति ही आत्मा हमें उत्पन्न करता है । मनःकाश, मन रूपी आकाश का ही अंश है । जहाँ हमारी सारी कल्पनाएं इसी मन रूपी आकाश में विचरण करती है ।

प्रकृति को प्रमाण में देने का उदाहरण हम श्रीमद्भगवत गीता में देखते है । जब श्री कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते है कि "शुक्ल कृष्णे गति ह्येते जगत: शाश्वते मते:" शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार कि इस जगत की गतिया है । एक गति को प्राप्त हुआ योगी कभी पीछे लौटकर नहीं आता है तथा दूसरी गति से गये व्यक्ति बारम्बार जन्म-मरण रूप गतियों को प्राप्त होते है । इस प्रकार "आब्रह्म- भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिंनोपुनरावर्तिंनोऽर्जून" हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरवर्ती आवागमन को प्राप्त है । परंतु मेरे (आत्मा - आत्माकुण्ड) को प्राप्त होकर (उसका) पुनर्जन्म नहीं होता है क्योंकि वह मेरा ही रुप हो जाता है । यहा हम स्पष्ट रूप से देख रहे है कि भगवान श्री कृष्ण भी जो उपदेश दे रहे है उसे प्रकृति तथा सम्पुर्ण जगत ओर ब्रह्माण्ड के साथ जोड़ कर सिद्ध भी कर रहे है ।

【 *129* 】 " प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् " ।

।। १.४.२३ ।।

प्रकृति आदि भी पूर्व मे प्रतिज्ञा आदि ब्रह्मसूत्र में तथा नाना दृष्टान्तादिक में तथा उपमाओ में सर्वत्र ब्रह्म से ही पहचान अभिव्यक्ति आदि को सिद्ध किया गया है । व्यक्ति ब्रह्म अर्थात आत्मा द्वारा ही चिन्हित होता है । पुत्र, पति, पत्नी माता पिता आदि पद एवं विशेषण उसे ब्रह्मस्थ भाव में ही मिलते है । ब्रह्म आत्मा से रहित उसका शरीर मिट्टी अथवा राख में बदलते ने के उपरांत सभी प्रकार की पहचान चिन्ह खो देता है । अपने स्वजन की देह की भष्मी को कोई स्त्री पति नहीं कहती और कोई पुत्र उसे पिता नही कहता है ।

इस सूत्र में प्रकृतिश्च से यह तात्पर्य है की वाह्य स्थुल भौतिक अवस्था को ही अपनी पहचान अथवा संकल्प बनाए रखना सत्य नही है । स्थुल दृश्य जगत को ही अंतिम सत्य मान लेना अज्ञानता है । स्थुल शरीर जब राख हो जाता है तो इसकी कोई पहचान नहीं रहती है । जो कुछ भी हमारी पहचान है वह ब्रह्म आत्मा से ही है ।

【 *130* 】 " अभिध्योपदेशाच्च " ।। १.४.२४ ।।

अभिध्या, उपदेशात्, च ।

आत्मा के सन्मुख, आत्मा में ही नित्य ध्यान चिंतन, मनन तथा आत्म-तत्व को प्राप्त करने का उपदेश सर्वत्र हुआ है ।

सभी सद्ग्रंथो सभी स्मृति वेदादिक सभी भाष्य ग्रन्थों में जो कुछ भी उपदेश हुआ है की ब्रह्म हर घट में आत्मा होकर पुर्ण रूप से समाया हुआ है । इसलिए हमें ब्रह्म और आत्मा को सन्मुख रख कर ध्यान करना चाहिए ।

【 *131* 】 " साक्षाच्चोभ्याम्नानात् " ।। १.४.२५ ।।

साक्षाच् *(* साक्षात् *)*, च, उभ्याम, नानात् ।

प्रगट नित्य सत्य, आत्मयज्ञ, आत्मा ही है तथा ब्रह्म ही नाना सुृष्टियों उत्पत्ति आदि का मूल है । एवं आत्मयज्ञ ही सक्षम है ।

जो स्पष्ट है, साक्षात् है, सन्मुख है वह मेरा अन्तजगत आत्मा ही है । वह उभय रूप से समान भाव से सर्वत्र बैठा है वहीं नाना उत्पत्ती का मूल है । वह ब्रह्म ही है । पूर्व सूत्रो में स्पष्ट हुआ है कि जिसने आकाशों, नक्षत्रों, ग्रहो आदि को प्रगट किया है वह ब्रह्म सूक्ष्म बनकर हमारे में बैठा है, वहीँ हमारे जीवन का आधार है, इसलिए प्रत्येक साँस हमें अपनी आत्मा का सन्मान करना चाहिए ।

【 *132* 】 " आत्मकृतेः परिणामात् " ।। १.४.२६ ।।

सम्पुर्ण जीवंत सचराचर आत्मा ब्रह्म की ही कृति है । आत्मयज्ञ का ही परिणाम है । ग्रह, नक्षत्र, पौधे, जीवधारी संपूर्ण आत्मा अर्थात

ब्रह्म यज्ञ से दृश्य, प्रगट उत्पन्न होते तथा आत्मा द्वारा ही था स्थायित्व को प्राप्त होते हैं ।

धर्म हमें सृष्टि, उत्पत्ति, प्रलय के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा पैदा करता है तथा अपने होने के कारण को जानना ही धर्म है । वह कौन है ? जो हमें उत्पन्न करता है । क्यों करता है ? मिट्टी, पानी, अन्न, फल समस्त जीवधारियों, मनुष्य का रूप कैसे पाते हैं तथा बारंबार हमें शरीर की मृत्यु के बाद भी पुनः पुनः क्यों उत्पन्न कर रहा है ? जीवन के इन अनसुलझे रहस्य का उत्तर हमें धर्म में मिलता है ।

हमारे शरीर की उष्मा गर्मी जिस यज्ञ के कारण है वह आत्म यज्ञ ही है, जिससे हमें जीवन का प्रत्येक क्षण मिल रहा है । आत्म-यज्ञ में आत्मा आचार्य है, प्राण उपाचार्य तथा संपूर्ण जीवन का प्रत्येक क्षण इस यज्ञ की सामग्री है । एसी राज (ज्योतियों) का यज्ञ ही सचराचर को उत्पन्न कर रहा है, यही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश है । गीता में भी इसी यज्ञ का वर्णन है । हम सब जीव इस आत्म-यज्ञ में घुलमिल जाते हैं तभी मोक्ष संभव है। तथा एक नया जीवन देवत्व का प्राप्त होता है ।

"आत्मकृतेः परिणामात्" इस सूत्र का भावार्थ भी यही है कि आत्मा का ही परिणाम हम सब हैं । संपूर्ण सचराचर, ग्रह, नक्षत्र, तारामंडल यह सब आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । आत्मा ही यज्ञ, ईश्वर कृष्ण वं राम है । आत्मा ही परमात्मा का लीला अवतार है, हम सब आत्मा की कृति है ।

【 133 】 "योनिश्च हि गीयते" ।। १.४.२७ ।।

योनि:, च, हि, गींयते ।

योनि में जीव आत्मा द्वारा ही आता है । तथा आत्मा, ब्रह्म ही योनी का रचनाकार, रक्षक, विधाता तथा दीर्घायु प्रदाता है । भले ही जीव योनि के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है परंतु जीव योनि में प्रवेश करता तथा परित्याग कर जाने वाला यात्री है । योनि उसका अल्प ठहराव, विश्राम स्थल है । जीव किसी योनि (शरीर) का रचयिता अथवा निर्माता नही है ।

यह सत्य है कि जीव योनि के द्वारा ही जाना जाता है, लेकिन इस योनि में जीव को लाने वाला ब्रह्म आत्मा ही है । योनि एक क्षणिक ठहराव है जीवनयात्रा का । एक ही जीव अनेक योनि में जन्म लेता है । योनि में जीव ग्रहण किया जाता है । यह जीव के वश में नहीं है कि वह अपनी इच्छा से योनि का चयन करें ।

【 134 】 "एतेन सर्वे वाख्याता व्याख्याता:" ।

।। १.४.२८ ।।

इस प्रकार इस भाँति जो प्रथम अध्याय में विस्तार से सबकुछ जाना है तथा जिसकी वाख्या हमने स्पष्ट की है; ऐसा ही सर्वत्र श्रुति स्मृति तथा लीला ग्रंथों में नाना वाख्यानों में कहा गया है । भेद का कोई

स्थान नहीं है । आत्मा ही ब्रह्म है आत्मा ही परमात्मा का लीलावतार है । आत्मा ही घट घट वासी अजर अमर, अविनाशी श्री राम, श्री कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, महेश का प्रतिरूप है । आत्मयज्ञ में ही सचराचर की सृष्टि उत्पत्ति जीवन मरण सिद्ध है ।

ब्रह्मसूत्र अध्यात्म तत्व की सीमांकन करते है । "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" इस प्रकार प्रथम अध्याय में निर्गुण निराकार ब्रह्म को स्पष्ट कर ब्रह्म का परिचय देते है । इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करते है कि जैसे एक दीवार जो बिल्कुल कोरी है उसमे कुछ भी चित्र आदि नही है । उसे हम निर्गुण निराकार ब्रह्म से तुलना कर सकते है । उस दीवार पर कोई चित्रकार चित्र बना दे तो दिवार की पहचान उस चित्र के रूप में होने लगती है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब दीवार का अस्तित्व ही नहीं है, इसी प्रकार सम्पुर्ण सगुण साकार जगत निर्गुण निराकार ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार सभी ग्रंथों, श्रुति लीला कथाओं में जो कुछ भी व्याख्या की गईं है वह यही है "एको ब्रह्म द्वितियो नास्ति" सब कुछ ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसलिए ब्रह्म के सिवा दुसरी कोई सत्ता नहीं है, सबमें उसी की वाख्या है तथा सभी व्याख्याकारों ने उसे ही स्वीकारा है ।

इति श्री ब्रह्मसुत्र श्री सनातन भाष्य प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद ।

गोविंद हरि

नारायण हरि

हरि ॐ नारायण

परम् पूज्य वेदमूर्ति गुरुदेव स्वामी सनातन श्री महाराज का दिव्य सद्ग्रन्थ

ब्रह्मसूत्र (श्री सनातन भाष्य)

स्वामी सनातन श्री